श्रीज्ञानसूर्योदय

ग्रन्थका रहस्य।

मोहादिक भाव सब उपाधिरूप चेतनके,
दुखदाई जान वृथा चित्त न भ्रमाइये।
ज्ञानादिक भाव ते तो आपहीके स्वभाव,
तिनको हितकारी जानि चित्तको रमाइये॥
जिनवानी जोर विना ज्ञानकी न शक्ति कछू,
तातैं जिनवानी विना घरी ना गमाइये।
ताके अनुसार ध्यान धारि मोहको विडारि,
केवल स्वरूप होय आपमें समाइये॥

[श्रीभागचन्द्रकवेः]

नाटकपात्र ।

सूत्रधार—नाटकाचार्य ।

नटी—सूत्रधारकी स्त्री ।

प्रबोध—प्रधाननायक ।

अष्टशती—प्रबोधकी स्त्री (श्रीअकलंकभट्टकृत न्यायग्रन्थ देवागमकी टीका)

विवेक—प्रबोधका भाई ।

मति—विवेककी स्त्री ।

परीक्षा—प्रबोधकी बहिन ।

पुरुष (आत्मा)—प्रबोधादिका पिता ।

उपदेश—प्रबोधका गुप्तचर ।

सम्यक्त्व—प्रबोधका मन्त्री ।

न्याय—प्रबोधका दूत ।

दया—प्रबोधकी दूसरी स्त्री ।

क्षमा—दयाकी माता ।

शान्ति—दयाकी छोटी बहिन ।

मैत्री—सर्व जीवोंकी हितकारिणी ।

वाग्देवी—सरस्वती देवी ।

अनुप्रेक्षा—अनित्यादि बारह प्रकार ।

मन—वैराग्यका पिता ।

संकल्प—मनका सहचर ।

वैराग्य—मनका पुत्र ।

मोह— } पुरुषके कुमति-
काम— } स्त्रीसे उत्पन्न हुए
क्रोध— } पुत्र ।

रति—कामकी स्त्री ।

हिंसा—क्रोधकी स्त्री ।

राग द्वेष—लोभके पुत्र ।

कलि—मोहका मंत्री ।

दंभ— } मोह राजाके
अहंकार— } सुभट ।

विलास—मोहका दूत ।

बुद्धागम—
याज्ञिक (मीमांसक)
नैयायिक—
ब्रह्माद्वैत (वेदान्त)
श्वेताम्बर—
कापालिक—
वैष्णव—
} बुद्धादि धर्मोंके अनुयायी ।

इनके सिवाय विद्यार्थी, श्राविका, ध्यान, दासियां, द्वारपाल, सामन्तादि ।

प्रस्तावना।

ज्ञानसूर्योदय नाटक जिसका कि यह हिन्दी अनुवाद आज हम अपने पाठकोंके साम्हने लेकर उपस्थित है, जैन समाजमें वहुत परिचित हैं। इसकी दो तीन भाषा वचनिकायें भी हो चुकी है। परन्तु वर्तमान समयमें जिस ढंगके अनुवादको लोग पसन्द करते हैं, वचनिकाओंसे उसकी पूर्ति नहीं होती है, और इस कारण इस परमोत्तम नाटकका जैसा चाहिये, वैसा प्रचार नहीं होता है, ऐसा समझकर मैंने यह परिश्रम किया है। इस प्रयत्नमें मुझे कहातक सफलता प्राप्त हुई है, इसका विचार करना विद्वान पाठकोंका काम है।

मूलग्रन्थपरसे यह अनुवाद किया गया है। जहातक वना है, इसे शब्दशः करनेका प्रयत्न किया है। तौ भी कही २ वाक्य रचनाके ख्यालसे अथवा विषयको सरलतासे समझानेके विचारसे इसमे थोड़ा वहुत हेर फेर इच्छा न रहते भी किया है। गर्भाक तथा स्थानादिकी कल्पना प्रकरणके अनुसार मुझे स्वयं करनी पड़ी है। पहले विचार था कि, इसका गद्यका गद्यमें और पद्यका पद्यमें अनुवाद किया जाय, और नाटकोंका अनुवाद होता भी ऐसा ही है। परन्तु यह नाटक धर्मसम्वन्धी वादविवादका है, इसलिये इसमें भिन्न २ धर्मोंके जो प्रमाण-श्लोक तथा वाक्य दिये गये है, उन्हें ज्योंके त्यों रखना ही उचित समझा गया। इसके सिवाय अनेक श्लोक ऐसे भी देखे गये, जिनका अभिप्राय गद्यमें समझानेसे ही अच्छी तरहसे समझा जा सकता था। उनका पद्यमें अनुवाद न करके गद्यहीमें कर दिया गया है। अच्छे २ श्लोकोंको टिप्पणीमें लगा दिये है, जिससे पाठकगण उन्हें स्मरण रख सकें, और उनके अनुवादमें कुछ भूल रह गई हो, तो सुधार सकें।

पहले इस ग्रन्थमें जितने पद्य वनाये गये थे, वे सव वृजभाषामें थे। परन्तु पीछे अपने एक मित्रकी सम्मतिसे हमने वहुतसे पद्य खड़ी वोलीमें भी वनाकर शामिल कर दिये हैं। यदि यह खिचरी पाठकोंको पसन्द न आई, और इस ग्रन्थका दूसरा संस्करण मुद्रित करानेका अवसर आया, तो उसमें सव कविता एक ही प्रकारकी कर दी जावेगी।

इस ग्रन्थमें जो विषय न्यायका है, उसका अनुवाद जैनसमाजके दो अच्छे विद्वानोंसे संशोधन करा लिया गया है। इनके सिवाय और भी जो संदेहजनक स्थान थे, वे विद्वानोंकी सम्मतिसे स्पष्ट करके लिखे गये हैं। इससे जहांतक मैं समझता हूं, ग्रन्थमें कोई भूल नहीं रही होगी। तो भी यदि भ्रमवशात् कुछ दोष रह गये हों, तो उनके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

बम्बई. ज्येष्ठ कृष्णा २ }
वीरनि० २४३५ }

नाथूराम प्रेमी.

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।
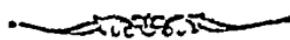
ज्ञानसूर्योदय नाटक श्रीवादिचन्द्रसूरिने विक्रम सवत् १६४८ में मधूक (महुवा ?) नगरमें रहकर बनाया है। वे मूलसंघके आ-चार्य थे, और उनके गुरुवर्यका नाम श्रीप्रभाचन्द्रसूरि था। पुस्तकके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है, उससे यह वृत्तान्त विदित होता है। काव्यमालाके तेरहवें गुच्छकमें एक पवनदूत[1] नाम-का काव्य थोड़े दिन पहले प्रकाशित हुआ है। वह भी श्रीवादि-चन्द्रसूरिका बनाया हुआ है, ऐसा उसके अन्तिम श्लोकसे विदित होता है। वह श्लोक यह है;—

> पादौ नत्वा जगदुपवृतावर्धसामर्थ्यवन्तौ
> विघ्नध्वान्तप्रसरतरणेः शान्तिनाथस्य भक्त्या।
> श्रोतुं चैतत्सदसि गुणिना वायुदूताभिधानम्
> काव्यं चक्रे विगतवसनः स्वल्पधीर्वादिचन्द्रः॥१०१॥

इसके सिवाय ईडरके भंडारमें एक सुभगसुलोचनचरित नामका काव्य भी इन्हींका बनाया हुआ है, परन्तु वह देखनेके लिये नहीं मिल सका। पांडवपुराण, पार्श्वपुराण, और होलीचरित्र नामके तीन ग्रन्थ भी श्रीवादिचन्द्रसूरिके बनाये हुए हैं, ऐसा डेक्कनकालेज वगैरहकी रिपोर्टोंसे विदित होता है। प्रभाचन्द्रसूरि

---

१ यह काव्य कालिदासके मेघदूतके ढगपर बनाया गया है। इसमें सुग्रीवने सुताराके विरहसे पीडित होकर जो पवनरूपी दूतके द्वारा सन्देशा भेजा है, उसका बडा ही हृदयग्राही वर्णन है। जिस गुच्छकमें यह प्रकाशित हुआ है, उसमें मनोदूत, विल्हणकाव्य, गंजीफा खेलन, धनदशतकत्रय, दूतीकर्मप्रकाश आदि और भी उत्तमोत्तम काव्य सगृहीत हैं। मूल्य १) रुपया है।

नामके अनेक आचार्य हुए है । उनमें श्रीवादिचन्द्रसूरिके गुरु कौन है, इसका निर्णय विना उनके ग्रन्थोंके देखे नहीं हो सकता है। तो भी अनुमानसे कह सकते हैं कि, **हरिवंशपुराणपंजिका, पद्मपुराणपंजिका, अकलंककथा, सिद्धचक्रपूजा, प्रतिष्ठापाठ, रोहिण्युद्यापन** आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता जो विक्रम संवत् १५८० में हुए है, वे ही ज्ञानसूर्योदयकर्त्ताके गुरु होंगे । क्योंकि वादिचन्द्रके समयसे उनके समयकी जितनी निकटता है, उतनी दूसरे प्रभाचन्द्रोंकी नहीं है ।

ज्ञानसूर्योदय नामका एक नाटक **कनकसेन** अथवा **कनकनन्दि** नामक कविका बनाया भी है । परन्तु वह प्राकृत भाषामें है । क्या आश्चर्य है, जो उक्त प्राकृत ग्रन्थ ही श्रीवादिचन्द्रसूरिके द्वारा संस्कृतमें अनुवादित हुआ हो । **ज्ञानभानूदय, ज्ञानार्कोदय** नामके और भी दो तीन नाटकोंका रिपोर्टोंसे पता लगता है, जिससे भ्रम होता है कि, शायद वे भी इसी विषयके नाटक है।

ग्रन्थका परिचय ।

वैष्णवसम्प्रदायका एक प्रबोधचन्द्रोदय नामक प्रसिद्ध नाटक है। वह श्रीकृष्णमिश्रयति नामके किसी पंडितका बनाया हुआ है। उसके तीसरे अंकमें एक दिगम्बर (क्षपणक) पात्र बनाके उसके द्वारा निःसीम निन्द्य कार्य करवाये है, और दिगम्बर सिद्धान्तका मजाकके तौरपर थोड़ासा खंडनसा किया है। उक्त अंकको वांचकर ग्रन्थकर्त्ताके मलिन विचारोंपर वड़ी ही घृणा उद्वेग और क्रोध आता है। हमारा अनुमान है कि, शायद प्रबोधचन्द्रोदयको पढ़कर ही श्रीवादिचन्द्रसूरिने ज्ञानसूर्योदयकी रचना की है, और इसके द्वारा श्रीकृष्णमिश्रके अनुचित कटाक्षोंका कुछ वदला चुकाया है। परन्तु हम कहते है कि, उसके दशांशका भी वदला इस ग्रन्थसे नहीं चुक सका है। क्षपणकको (जैनमुनिको) कापालिनीके हृदयसे चिपटाना, शराव पिलाकर कापालिनीके मुखके ताम्बूलसे उसके नशेका दूर करना, तथा लिंगविकारको मयूर-पिच्छिसे आच्छादित करना, आदि घृणित और झूठी रचना करनेमें प्रबोधचन्द्रोदयके कर्त्ताने जो साहस किया, वह साहस वादिचन्द्रजी नहीं कर सके। वदला चुकानेके लिये ही उन्होंने इसकी रचना की, पर सफलता नहीं हुई। **शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्** की नीतिका उनसे पूरा २ अनुकरण नहीं हो सका। जान पड़ता है **चञ्चच्चन्दनकेशशङ्कितभुजाका** श्लोक कहकर ही उनका वैष्णवकोप शान्त हो गया। अस्तु।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक ज्ञानसूर्योदयसे पहले बना है, ऐसा मा-

लूम हुआ है। इसलिये हमने ऊपर कहा है कि, प्रवोधचन्द्रोदयके उत्तरमें इसकी रचना हुई है। परन्तु यदि कनकनन्दिके प्राकृत ज्ञानसूर्योदयका यह अनुवाद अथवा अनुकरण हो और वह प्राचीन हो, तो ऐसा भी हो सकता है कि, ज्ञानसूर्योदयको देखकर प्रवोधचन्द्रोदयकी रचना की गई हो। चाहे जो हो, परन्तु इतना तो अवश्य है कि, ये दोनो ग्रन्थ एक दूसरेको देखकर बनाये गये हैं। क्योकि इन दोनोंकी रचना प्रायः एक ही ढंगकी, और एक ही भित्तिपर ही हुई है। दोनों ग्रन्थोंका परिशीलन करनेसे यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है। कहीं २ तो थोड़ेसे शब्दोंके हेरफेरसे वीसों श्लोक और गद्य एक ही आशयके मिलते हैं। दोनोंके पात्र भी प्रायः एकही नामके धारण करनेवाले है। ज्ञानसूर्योदयकी अष्टशती प्रवोधचन्द्रोदयकी उपनिषत् (शास्त्र विशेष) है, काम, क्रोध, लोभ, दंभ, अहंकार, मन, विवेक आदि एकसे है। सूर्योदयकी दया चन्द्रोदयकी श्रद्धा है। वहां दया खोई गई है, यहां श्रद्धा खोई गई है। वहां अष्टशतीका पति प्रवोध है, यहां उपनिषत्का पति पुरुष है। सारांश यह कि, दोनों एक ही मार्गपर एक दूसरेको पढ़कर बनाये गये है।

अथ ग्रन्थप्रशस्तिः ।

मूलसङ्घे समासाद्य ज्ञानभूषं बुधोत्तमम् ।
दुस्तरं हि भवाम्बोधिं सुतरं मन्यते हृदि ॥ १ ॥
तत्पट्टामलभूषणं समभवद्दैगम्बरीये मते ।
चञ्चद्बर्हकरः सभातिचतुरः श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः ॥
तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलकः श्रीवादिचन्द्रो यति-
स्तेनायं व्यरचि प्रबोधतरणिर्भव्याब्जसम्बोधनः ॥ २ ॥
वसुवेदरसाब्जाङ्के वर्षे माघे सिताष्टमीदिवसे ।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरम्भः ॥ ३ ॥

अर्थात्-श्रीमूलसंघमें एक श्रीज्ञानभूषण नामके आचार्य हुए । जिनको पाकर पंडितजन ससारसमुद्रका तिरना अपने हृदयमें वहुत आसान समझने लगे । तात्पर्य यह कि उनके संसर्गसे मोक्ष प्राप्त करना वहुत सहज हो गया । पश्चात् दिगम्बर मतमें उनके पट्टपर निर्मल आभूषणस्वरूप श्रीप्रभाचन्द्राचार्य हुए, जो अतिशय सभाचतुर थे और अपने करकमलोंको चमकती हुई मयूरपिच्छिसे शोभित रखते थे । फिर इन्हीं प्रभाचन्द्रके पदपर वादिसमूहके तिलकस्वरूप श्रीवादिचन्द्र यति हुए, जिन्होंने भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाला यह ज्ञानसूर्योदय नाटक निर्म्माण किया ॥ २ ॥

संवत् १६४८ की माघसुदी अष्टमीके दिन मधूक नगरमें यह ग्रन्थ सिद्ध (सम्पूर्ण) हुआ ।

श्रीगजपथसिद्धक्षेत्र-
ज्येष्ठकृष्णा ६ श्री वीरनि-
र्वाण संवत् २४३४

अनुवादक—
श्रीनाथूराम प्रेमी—

नमः सिद्धेभ्यः

श्रीवादिचन्द्रसूरिविरचित

ज्ञानसूर्योदय नाटक ।

(भाषानुवाद)

[स्थान—रंगभूमि । नांदी मंगलपाठ पढ़ता हुआ आता है ।]

भाषाकारका मंगलाचरण ।

रोला ।

ज्ञानसूर्यको उदय कियो अति सदय हृदय करि ।
सौंख्य-शांतियुत किये जगतजन, मोहतिमिर हरि ॥
मुक्त किये भवि-भ्रमर खोलि संपुट सरोज विधि ।
नमो नमो जिनदेव देव देवनिके वहुविधि ॥ १ ॥

मूलकर्त्ताका मंगलाचरण ।

वीर-सवैया (३१ मात्रा)

पंचवरनमयमूर्ति मनोहर, विशद अनादि अनन्त अनूप ।
[म]हिमा महत जगतमें सुविदित, प्रनमों ओंकार चिद्रूप ॥

---

१ मूलग्रन्थकर्ताका मंगलाचरण संस्कृतमें इसप्रकार है,—

अनाद्यनन्तरूपाय पञ्चवर्णात्ममूर्तये ।
अनन्तमहिमासाय सदोङ्कार नमोस्तु ते ॥ १ ॥
तस्मादभिन्नरूपस्य वृषभस्य जिनेशितुः ।
नत्वा तस्य पदाम्भोजं भूपिताखिलभूतलम् ॥ २ ॥

तत्स्वरूप श्रीवृषभजिनेश्वर, तिनके चरनकमल सुखदाय।
सकल भूमितलके भूपनवर, नमो तिनहिं विधियुत सिर नाय॥
भूतलवासी भ्रान्त नरनिको, भूरि भूरि सुखदायनि सार ।
भवभ्रमभंजनि श्रीजिनभापा, भजों सदा भवनाशनहार ।।
पुनि वंदों गुरुदेव चरनवर, भक्तिभारयुत वारंवार ।
जिनके गुरुग्रन्थनिकी रचना, वुधजन-मन-विकसावनहार ॥

(सूत्रधारका प्रवेश ।)

सूत्रधार—अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है । हमको श्रीब्रह्मकमलसागर और ब्रह्मकीर्तिसागरने आज्ञा दी है कि, "समस्त द्वादशांगरूप समुद्रके चन्द्रमा, सरस्वतीगच्छके शृंगारहार, श्रीमूलसंघरूपी उदयाचलसे उदित हुए सूर्य, त्रिविद्याधरचक्रवर्ती और अपने करकमलोंको चमकती हुई मयूरपिच्छिकासे शोभित रखनेवाले, दिगम्वरशिरोमणि श्रीप्रभाचन्द्रसूरिके शिष्य और हमारे गुरु श्रीवादिचन्द्रसूरिने जो ज्ञानसूर्योदय नामका नाटक वनाया है, वह समस्त सभ्यजनोंके समक्ष खेला जावे" और इस समय कुतूहल देखनेके लिये सवका चित्त भी ललचा रहा है । इसलिये यदि आप लोगोंकी इच्छा हो, तो उक्त नाटक खेल कर दिखलाया जावे ।

सभासदगण—नटाचार्य! आपका खेल देखनेके लिये हम

भूपीठभ्रान्तभूतानां भूयिष्ठानन्ददायिनीम् ।
भजे भवापहां भाषां भवभ्रमणभञ्जिनीम् ॥ ३ ॥
येषां ग्रन्थस्य सन्दर्भः प्रोस्फुरीति विदो हृदि ।
ववन्दे तान् गुरून् भूयो भक्तिभारनमच्छिराः ॥ ४ ॥

---

१ तीन विद्या—व्याकरण, न्याय, और सिद्धान्त ।

सब यों ही उत्कंठित हो रहे थे। इतनेपर आप स्वयं दिखानेके लिये उत्सुक हैं! फिर क्या चाहिये? कहा भी है;—

पान करन जाको चहैं, करि अति दूर पयान।
घर आयो पीयूष सो, छांड़हिं क्यों बुधिवान॥ २॥

(सूत्रधार सभाको हर्षित देखकर नेपथ्यकी ओर देखता है और नटीको बुलाता है।)

सूत्र०—आओ! आओ! प्रिये! देखो, तो आज ये सभ्यगण कैसे हर्षित और उपशांतचित्त हो रहे हैं?

(नटीका प्रवेश)

नटी—लीजिये, मै यह आ गई! कहिये क्या आज्ञा है? आपके वचन सुनकर तो मेरे हृदयमें एक आश्चर्य उत्पन्न हुआ है।

सूत्र०—कैसा आश्चर्य्य?

नटी—यही कि, ये सब सभ्यगण नानाप्रकारके बुरे व्यापारोंके भारसे लद रहे हैं, तथा इनका चित्त सदा अपने स्त्री पुत्रोंका मुख निरीक्षण करनेमें उलझा रहता है, फिर भलॉं, ये उपशान्त चित्त कैसे हो गये?

सूत्रधार—प्रिये! लोगोंका चित्त स्वभावसे तो प्रायः शान्त ही रहता है, परन्तु कर्मके कारणसे कभी भ्रान्तरूप हो जाता है। और कभी उपशान्त हो जाता है। तुमने क्या यह नहीं सुना है कि, "जिस रामचन्द्रने अपनी प्यारी स्त्री सीताके मोहसे व्याकुल होकर रावणसे युद्ध किया था, और उसे मारा था, वही

---

१ दूरं गत्वा हि ये लोकाः पीयूषं हि पिपासवः।
गृहागतं हि तत्केषां न भवेत् पेयतास्पदम्॥

रामचन्द्र पीछे स्वस्थ शान्त और परिपूर्णबुद्धि होकर वैरागी हो गया था।" पूर्वकालमें जम्बूस्वामि, सुदर्शन, धन्यकुमार आदि महाभाग्य भी पहले संसारका आरंभ करके अन्तमें शान्त होकर संसारसे विरक्त हो गये हैं। उसी प्रकारसे इस समय ये सभासदगण अपने पुण्यके उदयसे उपशान्तचित्त हो रहे हैं। अतएव इस विषयमें आश्चर्य और सन्देह करनेके लिये जगह नहीं है।

नटी—अस्तु नाम। अब यह बतलाइये कि, इन सभ्यजनोंका चित्त किस प्रकारकी भावनासे अथवा किस प्रकारके दृश्यसे रंजायमान होगा?

सूत्रधार—आर्ये! वैराग्य भावनासे अर्थात् विरागरसपूर्ण नाटकके कौतुकसे ही इन लोगोंका चित्त आह्लादित होगा। शृंगार हास्यादि रसोंका आचरण तो आज कल लोग स्वभावसे ही किया करते है। उनका दृश्य दिखलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनसे मनोरंजन भी नहीं होगा। क्योंकि जो भावना—जो दृश्य अदृष्टपूर्व होता है, अर्थात् जो लोगोंके लिये सर्वथा नवीन होता है, वही आश्चर्यकारी और हृदयहारी होता है। किसीने कहा भी है कि;—

> अदृष्टपूर्वं लोकानां प्रायो हरति मानसम्।
> दृश्यश्चन्द्रो द्वितीयायां न पुनः पूर्णिमोद्भवः॥

अर्थात्—जिस चीजको पहले कभी न देखी हो, लोगोंका मन प्रायः उसीसे हरण होता है—उसीके देखनेके लिये उत्सुक होता

है। देखो, दोयजके चन्द्रमाको सब कोई देखते हैं, परन्तु पूनोंके चन्द्रको कोई नहीं देखता है[1]।

सूत्रधार—(रंगमंडपमें) "इस चैतन्यस्वभाव और अनाद्यनंत आत्माके सुमति और कुमति नामकी दो मानिनी स्त्रियां हैं। इन दोनोंसे प्रेम करके—दोनोंमें आसक्त रहकर इसने दो कुल उत्पन्न किये हैं। पहला कुल जो सुमतिसे उत्पन्न हुआ है, उसमें प्रबोध, विवेक, संतोष और शील ये चार पुत्र है, और दूसरा कुल जो कुमति महाराणीके गर्भसे हुआ है, उसकी मोह, काम, क्रोध, मान और लोभ ये पांच सुपुत्र शोभा बढ़ाते है।"

नटी—हे आर्यपुत्र[2]! आत्मा यदि पहले सुमतिमें आसक्त था, तो फिर कुमतिमें कैसे रत हो गया?

सूत्रधार—प्रिये! बलवान कर्मके कारणसे सब कुछ हो सकता है। देखो, शास्त्रमें कहा है कि;—

लब्धात्मवृत्तोऽपि हि कर्मयोगाद्
भूयस्ततो भ्रश्यति जीव एषः।
लब्धाः स्वकीयप्रकृतेः समस्ता-
श्चन्द्रः कलाः किं न मुमोच लोके॥

अर्थात्—"यह जीव अनेकबार आत्माके स्वभावकी प्राप्ति कर-

---

1 शुक्लपक्षकी दोयजको जब चन्द्रमा निकलता है, तब १५ दिनके बाद निकलता है. अर्थात् उसके पहले अँधेरे पाखमें उसके दर्शन नहीं होते हैं। इसलिये अदृष्टपूर्व होनेके कारण उसे सब देखते हैं। परन्तु पूर्णिमाके चन्द्रमाको कोई नहीं देखता। क्योंकि उसके पहले १५ दिनसे वह हररोज दिखा करता है। रोज २ दिखनेसे उसमें प्रीति नहीं रहती है।

2 पूर्वकालकी स्त्रियां अपने पतिको 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधन करती थीं।

के भी—आत्माके स्वरूपमें लवलीन होकर भी कर्मके योगसे भ्रष्ट हो जाता है। चन्द्रमा अपनी स्वाभाविक सोलह कलाओंको पाकर भी इस लोकको नहीं छोड़ता है. और फिर २ स्वरूपसे भ्रष्ट होकर एक दो तीन आदि क्रमसे उन कलाओंको पानेका प्रयत्न करता है।" इसी प्रकारसे सुमति सरीखी स्त्रीको पाकर भी आत्मा कुमतिसे प्रीति करनेको उद्यत हुआ होगा।

"आत्माने इस प्रकार दोनों कुलों सहित राज्य करते हुए बहुत काल व्यतीत कर दिया। अनन्तर कुमतिकी ठगाईमें फँसकर वह मोहको राज्य और कामको यौवराज्यपद देनेके लिये तयार हुआ।"

नटी—आर्य! वह आत्मा प्रबोधादि पुत्रोंको राज्य क्यों नहीं देता है?

सूत्रधार—कुमतिके वशमें पड़कर पुरुष ऐसा ही करते हैं।

नटी—ओह! क्या स्त्रियोंके अविचारित वचन ज्ञानवान आत्मा भी मान लेता है?

सूत्र०—जी हां! आजकल सब लोग स्त्रियोंके कहे अनुसार ही काम करते हैं। (मुस्कुराता है)

नटी—क्या पूर्वकालमें भी किसीने स्त्रीके कहे अनुसार काम किया है? मेरी समझमें तो किसीने नहीं किया होगा।

सूत्र०—नहीं! किया है. सुनो,—

रोला।

वचन मानि दशरथने, कैकयिके दुखदाई।
भक्तिवान अभिराम राम, रघुकुलदिनराई॥

---

१ ग्यारहवें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्रको पाकर भी जीव गिर पड़ता है।

दिये हाय! पहुँचाय, घोर भीषण वनमाहीं।
लघुसुत भरतहिं राज्य, दियो को जानत नाहीं॥

जिस प्रकार दशरथने कैकयीके कहनेसे राम जैसे पुत्रको वनमें भेज दिया, उसी प्रकार आजकल भी बहुतसे राजा स्त्रियोंके वचनोंमें लगकर बड़े २ कुकार्य करनेवाले हैं। वे स्त्रियोंके वचनोंको ही प्रायः ब्रह्मवाक्य समझते हैं।

नटी—हाय! धिक्कार है, ऐसे राजाओंको, नाथ! क्या प्रजाके लोग भी राजासे इस विषयमें कुछ निवेदन नहीं करते है?

सूत्र०—नहीं, प्रिये! लोग क्या कहें? वे भी तो राजाका अनुकरण करनेवाले होते हैं। लोकमें भी यह वाक्य प्रसिद्ध है कि, **"यथा राजा तथा प्रजा"** अर्थात् जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है। राजाके धर्मात्मा होनेपर प्रजा धर्मात्मा, राजाके पापी होनेपर प्रजा पापिनी, और राजाके सम होनेपर प्रजा सम होती है। सारांश यह है कि, सब राजाका अनुकरण करते है। अतएव किसीकी भी अनुमति न मानकर और प्रबोध शील संतोपादिकी अवज्ञा करके आत्मा मोहादिको ही राज्य देवेगा।

(बड़बड़ाता हुआ विवेक रंगभूमिकी ओर आता है।)

विवेक—पापी सूत्रधार! तूही अपनी इच्छासे लोगोंके सम्मुख मोहादिका राज्य स्थापित करता है। अरे! तुझे यह नहीं मालूम है कि, हम लोगोंके जीते जी ये मोह कामादि कौन हो सकते है?"

सूत्र०—(दूरसे आता हुआ देखकर) प्रिये! देखो, यह समस्त शास्त्रोंका पारगामी विवेक अपनी प्राणप्यारी स्त्री मतिके कंधेपर कर-कमल रक्खे हुए और मेरे वचनोंको तृणके समान तुच्छ मानता

हुआ आ रहा है। जान पड़ता है, अपनी बातचीत सुनकर इसे कुछ कोप उत्पन्न हुआ है। ऐसी अवस्थामें अब यहांसे चल देनेमें ही भलाई है। आओ चलें— [दोनों जाते हैं]

(विवेक और मतिका प्रवेश)

विवेक—अरे नीच! तूने यह बिना विचारे क्या कह दिया था? भला, मेरे जीतेजी कुमति क्या कर सकती है? और बेचारा मोह किस खेतकी मूली है? सूर्यके प्रकाशमें अंधकार क्या कर सकता है?

इसके सिवाय,—

माधवी।

सुगुरूनके सुन्दर शासनमें,
'रुचि' राचि रही सहचारिनि जैसे।
अरु 'शांति' सलौनी 'जितेंद्रियता,'
उर 'जीवदया' सुखकारिनि तैसे॥
वर तत्त्वप्रसूत 'प्रतीति' सखी,
'जिनभक्ति' सती 'शुभध्यान' हु ऐसे।
सब साधन आज सुसाज रहे,
तब राज विमोहको होयगो कैसे॥

मति—प्यारे! मैंने, एक बात सुनी है कि, राजा मोह अपने मंत्रीपदपर कलिकालको नियुक्त करना चाहता है। और कलिकाल महा पापी है। यदि यह समाचार सच हुआ तो अपना बड़ा भारी अकल्याण होगा।

विवेक—सखि! नहीं, यह झूठी शंका न जाने तेरे चित्तमें

कहांसे समागई है। मेरे संयम मित्रके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि अनेक सहायक हैं। उनके आगे बेचारे कलिकालकी क्या चल सकती है? एक संयम मित्र ही ऐसा है कि, उसके होते हुए किसीके भी भयको स्थान नहीं मिलता है। और दूर क्यों जाती हो, मै क्या कुछ कम हूं? मेरा भी पुरुषार्थ तो सुन ले;—

चौबोला।

विमलशील नहिं जरा मलिन भी, होने दिया कभी सपने।
रावणकेद्वारा सीताने, कीचकद्वारा द्रौपदिने॥
ऐसे ही श्रीजयकुमारने, नमिनृप-पतिनीके छलसे।
ब्रह्मचर्य अपना रक्खा सो, समझो सब मेरे बलसे॥

मति—हे आर्यपुत्र! आपका कथन सत्य है। तथापि जिसके बहुतसे सहायक हों, उस शत्रुसे हमेशा शंकित ही रहना चाहिये।

विवेक—अच्छा कहो, उसके कितने सहायक हैं? कामको शील मार गिरावेगा। क्रोधके लिये क्षमा बहुत है। संतोषके सम्मुख लोभकी दुर्गति होवेहीगी। और बेचारा दंभ-कपट तो संतोपका नाम सुनकर ही छूमंतर हो जावेगा।

मति—परन्तु मुझे यह एक बड़ा भारी अचरज लगता है, कि, जब आप और मोहादिक एक ही पिताके सहोदर पुत्र हैं, तब इस प्रकार शत्रुता क्यों?

विवेक—प्रिये! सुनो;—

वसन्ततिलका।

प्रायः प्रसिद्ध गुणवान तथा विवेकी।
भूम्यर्थ ही बनत हैं रिपु छोड़ नेकी॥

देखो उदाहरण भ्रान्ति नहीं रहै ज्यों ।
वाहूवली-भरत भ्रात लड़े कहो क्यों ? ॥

इसके सिवाय आत्मा कुमतिमें इतना आसक्त और रत हो रहा है कि, अपने हितको भूलकर वह मोहादि पुत्रोंको इष्ट समझ रहा है । जो कि पुत्राभास है, और नरकगतिमें ले जानेवाले हैं ।

मति—आर्यपुत्र! क्या पुत्र भी पिताको दुःख देते हैं?

विवेक—हा! अत्यन्त दुःख देते है । वे वेचारे इसका स्वप्नमें भी विचार नहीं करते है? कि पिताको दुःख देनेसे पाप होता है । कुलांगार-हठी कंसने मथुरा नगरीको सेनासे घेरकर अपनी माता और पिता उग्रसेनको कैद करके अतिशय दुःख दिया था, यह कौन नहीं जानता है ?

(नेपथ्यमें काम कहता हैं—)

काम—अरे पापी विवेक! क्यों हम लोग तो सव स्वामीको दुःख देनेवाले है, और तुम सुख देनेवाले हो! वाह! अपना तो मुँह ठहरा! अरे दुष्टमति! तू यह नहीं जानता है कि, मेरे रहते ही मनुष्योंको सुख हो सकता है, अन्यथा नहीं । जो लोग हमसे उत्पन्न हुए सुखोंको छोड़कर-सुखकी लालसासे अन्यत्र भटकते हैं, वे जलसे भरे हुए सरोवरको छोड़कर मृगतृष्णाके वश मरुस्थलोंमें भटकते फिरते है ।

विवेक—प्रिये! यह काम मोहके वलको पाकर वलवान [?] वन रहा है । किन्तु जवसे श्रीनेमिनाथ भगवानने ताड़ना की है, तवसे वेचारा यत्र तत्र भ्रमण ही किया करता है । मै तो इसका मुंह देखना भी अमंगलीक समझता हूं । इसलिये अव यहां ठहरना ठीक नहीं है । [दोनों जाते हैं]

(काम और रतिका प्रवेश।)

काम—ओह! विवेक बड़ा निरंकुश हो गया है। यह मेरा माहात्म्य नहीं जानता है, इसीलिये न जाने क्या वककर चला गया।

रति—प्रभो! आपका क्या माहात्म्य है? कहिये, मै भी तो सुन लूं।

काम—संसारमें जितने मनुष्य कुमार्गगामी होते है, वे सव मेरी ही कृपासे होते हैं। मेरा इससे अधिक और क्या माहात्म्य सुनना चाहती हो? सुनो,—पूर्वकालमें पद्मनाभिने द्रोपदीके लिये अर्ककीर्तिने सुलोचनाके लिये और अश्वग्रीवने स्वयंप्रभाके[1] लिये जो वड़े २ युद्ध किये है तथा ब्रह्माजीने अपनी पुत्री सरस्वतीके साथ, पराशर महर्षिने मछलीके पेटसे उत्पन्न हुई योजनगंधाके साथ, और व्यासजीने अपनी भाईकी स्त्रियोंके[2] साथ जो रमण किया है, सो सव मेरे वाणोंसे हत—आहत होकर किया है। और भी शैवमतमें कहा है कि[3]; मेरे वाणोंसे आहत होकर सूर्यदेव कुन्तीपर, चन्द्रमा अपने गुरुकी स्त्री तारापर, और इन्द्र गौतमऋषिकी स्त्री अहिल्यापर आसक्त हुआ था। अतएव हे कान्ते! मनुष्य, मुनि, और देवोंके पराजय करनेके कारण मै त्रै-

---

१ ज्वलनजटितकी पुत्री।

२ व्यासजी जिस योजनगंधाके उदरसे पैदा हुए थे, उसके गर्भसे पीछे राजा सान्तनुके वीर्यसे चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामके दो पुत्र हुए थे। ये दोनों जव नि:सन्तान मर गये, तव वंशकी रक्षाके लिये व्यासजीने उनकी स्त्रियोंके (भ्रातृवधुओंके) साथ संभोग किया था, ऐसी महाभारतमें कथा है।

३ सूर्यः कुन्तीं विधुर्नारीं गुरोः शक्रश्च गौतमीम्।
अयासीदिति वा प्रायो मद्विकारहता जनाः॥

लोक्यविजयी वीर हूं। और प्रवोधादिके वश करनेके लिये तो एक स्त्री ही वस है। यह कौन नहीं जानता कि;—

तव लों ही विद्याव्यसन, धीरज अरु गुरु-मान।
जव लों वनितानयनविष, पैठ्यो नहिं हिय आन॥

रति—परन्तु आर्यपुत्र! उन्हें यम नियमादिकोंका भी तो बड़ा भारी वल है!

काम—(हँसकर) मेरे अतिशय प्यारे मित्र सप्तव्यसनोंके साम्हने उन वेचारोंका कितनासा वल है। मेरे मित्रोंका प्रभाव सुनो-"द्यूतव्यसनसे युधिष्टर, माससे वक राजा, मद्यपानसे यदुवंशी, वेश्यासेवनसे चारुदत्त, शिकारसे राजा ब्रह्मदत्त, चोरीसे शिवभूति, परस्त्रीसेवनसे रावण, इस प्रकार संसारमें एक एक व्यसनके सेवनसे अनेक प्रतिष्ठित पुरुष नष्ट हो गये। फिर सवके युगपत् सेवनसे तो ऐसा कौन है, जो वचा रहेगा?" इससे हे प्रिये! इस विषयमें तू कुछ खेद मत कर।

रति—मैंने सुना है कि, राजाने आज कोई गुप्तमंत्रणा की है। क्या यह सच है?

काम—हां! मेरे साम्हने ही वह मंत्रणा की गई थी।

रति—उसे क्या मैं नहीं जान सकती हूं?

काम—सुनो, राजाने कहा था कि, प्रवोध आदि पुत्र ज्येष्ठ है, और वलवान है, इसलिये न्यायमार्गसे प्राप्त हुए राज्यके वे ही स्वामी है। परन्तु प्रिये! यह पृथ्वी वीरभोग्या है। जो वीर होगा,

---

१ तावद्गुरवो गण्यास्तावत्स्वाध्यायधीरजं चेतः।
यावन्न मनसि वनितादृष्टिविषं विशति पुरुषाणाम्॥

वही इसका उपभोग करैगा । योग्यताका इससे कोई सम्बन्ध नही है ।

रति—यह ठीक है, परन्तु सहायकोंके विना उनका जीतना भी तो कठिन है । इस विषयमें वहां क्या विचार हुआ है?

काम—उस समय मोहकी वल्लभा स्त्री मायाने कहा था कि, "हरि, हर, और ब्रह्मा ये तीनों बलवान हैं, और मुझपर प्रीति रखते है । इसलिये उन्हें अपने पक्ष पोषक बनाना चाहिये ।" यह सुनकर मोहने कहा था कि, "देवी! इस कार्यको तुमहीं अच्छी तरहसे सम्पादन करोगी ।" तब माया यह कहकर वहांसे उसी समय चली गई थी कि, "महाराजकी जो आज्ञा होगी, वही मैं करूंगी । मैं हरि हर ब्रह्मादिके पास जाकर समस्त कार्य निवेदन करके, और उन्हें अपने पक्षमें दृढ़ करके कार्य साध लाऊंगी ।"

रति—पीछे माया क्या काम करके आई थी?

काम—न मालूम पीछे क्या हुआ, चलो चलकर देखें ।

[दोनों जाते हैं परदा पड़ता है ।]

अथ द्वितीय गर्भाङ्कः ।

स्थान—मोहका राजभवन ।

(मोह और उसके दम्भ आदि कर्मचारी बैठे हुए हैं । फाटकपर लीलावती नामकी दासी खड़ी है । विलास प्रवेश करता है ।)

विलास—लीलावति! मुझे मायाने भेजा है । इस लिये तू जाकर मोह महाराजको सूचित कर ।

लीलावती—(भीतर महलमें जाकर) हे देव! विलास आया है।

राजा—(सहर्ष उठकर) लीलावति! विलासको शीघ्र भेज ।

लीलावती—(विलासके पास आकर) आइये महाशय! राजकुलसे वार्तालाप कीजिये ।

विलास—महाराजा मोहराजकी जय हो! जय हो! जय हो!

मोह—प्रिय विलास! कहो क्या समाचार है?

विलास—महाराज! जगन्मोहिनी मायाको देखते ही हरि हर और ब्रह्माने इस प्रकार स्वागत करते हुए कहा—

मत्तगयन्द ।

"भौंहनतैं द्वितियाको मयंक, विलोकनतैं अरविन्द पलाया।
दंतनतैं मुकतानकी पंकति, आननतैं वर इन्दु लजाया॥
वेणीसों व्याल, उरोजसों चक्र, तथा कटितैं हरि भाजि छुपाया।
ऐसी अनूपम रूपकी खानि!, पधारहु! आवहु! मानिनिमाया॥

आज किस उद्देश्यसे यहां आनेकी कृपा की । वहुत दिनोंके पश्चात् तुम्हारे दर्शन हुए हैं । कहो, कुशल तो है? और यह तो कहो, आजकल दुर्वल क्यों हो रही हो? यदि कोई कार्य हो, तो कहो?" इसके पश्चात् उन तीनों देवोंने अपने आसनसे उठकर मायाके रूपमें अतिशय अनुरक्तचित्त होकर नानाप्रकारके विभ्रम विलास करनेवाली उस मायाका आलिंगन कर लिया । इधर प्रेममयी माया भी आनन्दसे उनकी गोदमें जा बैठी ।

दम्भ—क्यों जी! जव मायाका आलिंगन कर लिया, तो उन्हें अपने शीलभंगका क्या कुछ भी भय नहीं हुआ?

विलास—(मुसक्कुराकर) महाशय! जिस पदार्थका अस्तित्व होता है, उसीका विनाश होता है । असत् पदार्थका विनाश कहीं भी नही सुना है । उनके जव आकाश पुष्पके समान ब्रह्मचर्य्यका

अत्यन्त अभाव ही है, तब उसका नाश होना कैसे कहा जा सकता है? फिर भय किस बातका ।

दंभ—अरे पापी! असत्य मत बोल! विष्णुका शील प्रसिद्ध है । सुनते हैं, एकबार बालब्रह्मचर्यके प्रभावसे उन्हें यमुनाने मार्ग दिया था ।

विलास—मेरी समझमें तो ऐसा कहना "मेरी माता और वंध्या" कहनेके समान स्ववचनव्याघातक है । क्या यह तुमने नहीं सुना है कि,—

वृन्दावनको कुंज जहँ, गुंजत मंजु मलिन्द ।
मघन-पीन-कुच-युवतिसँग, रमत रसिक गोविन्द ॥

दंभ—अजी! गोविन्द गोपिकाओंमें आसक्त होनेपर भी ब्रह्मचारी थे ।

विलास—निस्सन्देह! इसीलिये तो आपका वाक्य स्ववचनविघातक है ।

दंभ—अस्तु, और यह भी तो कहो कि, माया उनमें एका-एक कैसे अनुरक्त हो गई?

विलास—स्त्रीके आसक्त होनेमें क्या देरी लगती है? देखो; "स्त्रियोंका चित्त स्वभावसे ही चंचल होता है, फिर समय पड़नेपर तो पूछना ही क्या है? जो विना मद्यपान किये ही नृत्य करता है, वह नशेमें चूर होनेपर क्या न करेगा?"

मोह—दंभ महाशय! इस समय इस विषयान्तरको जाने दीजिये । अच्छा विलास! फिर क्या हुआ?

विलास—स्वामिन्! हरि हर और ब्रह्मासे मायाने कहा "मोह

राजा आपके बलसे ही प्रवोधादिके साथ युद्ध करना चाहता है। इसलिये आप निर्वाहपर्यन्त अर्थात् जवतक विजय न हो, तवतक उसके पक्षमें रहें ।" यह सुनकर ब्रह्मादि देवोंने कहा, "हम स्वीकार करते है । प्रिये! हम लोग तो स्वभावसे ही प्रवोधादिके मारनेवाले है और फिर अव तो आपकी आज्ञा हुई है! हे देवि! **मोह, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष, असत्य, अहंकार, दंभादि** हमारे आजके मित्र नहीं है, वहुत पुराने है । हमारे भक्तजन भी उनसे गाढ़ प्रेम रखते है । इसलिये निश्चय समझ लो कि, हम सव मोहादिकका पक्ष करके **प्रवोध—शील—संतोषादिको** जड़से उखाड़कर फेंक देंगे ।" यह सुनकर मायाने हर्षित हो घर आकर मुझे आपके समीप भेजा है ।

(विलास जाता है । अहकारका प्रवेश)

अहंकार—(प्रणाम करके) स्वामिन्! आप आज कुछ चिन्तातुर जान पड़ते है? नीतिशास्त्रमें कहा है कि, "पुरुषोंके लिये एक सत्त्व ही प्रशंसनीय पदार्थ है, पक्षका ग्रहण नहीं । देखो, वाहुवलिने सत्त्वका अवलम्वन करके भरत चक्रवर्तीको पराजित किया था ।"[1] और भी किसीने कहा है कि[2], "सूर्य अकेला है । उसके रथके एक पहिया है । सारथी भी एक पैरसे लंगड़ा है । सर्पोंकी लगाम है । घोडे भी कुल सात ही है, और आकाशका निरालम्व

---

१ श्लाघ्यं सत्त्वं सदा नृणां न तु पक्षाग्रहः क्वचित् ।
दोर्वली सत्त्वमालम्व्य किं जिगाय न चक्रिणं ॥

२ रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः ।
निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ॥
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

मार्ग है तौ भी वह प्रतिदिन अपार आकाशके पार जाया करता है। इससे सिद्ध है कि, महापुरुषोंके कार्यकी सिद्धि उनके सत्त्वमें (तेजमें) रहती है। उपकरणोंमें—सहायक वस्तुओंमें नहीं रहती है। अर्थात् जो सत्त्ववान होता है, वही अपने अभीष्टकी सिद्धि कर सकता है।" इसके सिवाय आप जिन लोगोंको पक्षकार बनानेका प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं निर्बल है। देखिये, मै उन सबकी कलई खोले देता हूं। पहले कृष्णजीको ही लीजिये! बेचारे जरासंध राजाके पुत्र कालयमनके डरके मारे सैन्यसहित सौरीपुरसे भागकर समुद्रके किनारे आ रहे थे। और रुद्र महाराज तो उनसे भी बलहीन तथा मूर्ख हैं। आपने एक बार सारी बुद्धि खर्च करके भस्मांगदको वरदान दे दिया था कि, तू जिसपर हाथ रक्खेगा वह तत्काल मर जावेगा। सो जब भस्मांगदने पार्वतीपर मोहित होकर आपहीपर वह कला आजमानेका प्रयत्न किया, तब बेचारे नाँदिया—गुदड़ी (कंथा)—और पार्वतीको छोड़कर भागे और किसी तरहसे अपनी जान बचा पाये। ब्रह्माजीकी तो कुछ पूछिये ही नहीं। एकबार ईर्षासे इन्द्रका राज्य लेनेके लिये आपने वनमें ध्यान लगाकर तपस्या करना प्रारंभ किया था। परन्तु इन्द्रकी भेजी हुई रंभा—तिलोत्तमाने अपने हाव भाव विभ्रम विलासोंसे और सुन्दर गायनसे क्षणमात्रमें तपसे भ्रष्ट कर दिया। भला, जब ये स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते है, तब दूसरोंकी क्या सहायता करेंगे? इसलिये इनका भरोसा छोड़कर अपने सत्त्वका अवलम्बन करना ही समुचित है। मै अकेला ही उन प्रबोधादिकोंके जीतनेके लिये बहुत हूं। सुनिये,—

वीर सवैया (३१ मात्रा)

मेरे सम्मुख कौन निशाकर, कौन वस्तु है तुच्छ दिनेश ।
राहु केतुकी वात कहा है, गिनतीमें नहिं है नागेश ॥
सत्य कहूं हे मोहराज! नहिं, डरों जरा है कौन यमेश ।
केवल भौंहोंके विकारसे, जीतों मैं सुरसहित सुरेश ॥

और भी—

तौलों विद्याभ्यास अरु, विनय-धर्म-गुरुमान ।
जौलों नहिं धारण करूं, मैं अपनो धनुवान ॥

राजा—प्रिय अहंकार! ठीक है, मैं तुम्हारे वलसे जीतनेकी अभिलाषा रखता हूं। परन्तु समुदाय कठिन होता है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि, यदि निर्वल पुरुष भी वहुत हों, तो वड़े वलवानको निश्चयपूर्वक पराजित कर डालते हैं। छोटी २ होनेसे क्या अगणित चींटियां सर्प्पको परास्त नहीं कर डालती हैं? अस्तु अव चलो, यहासे सवके सव वाराणसी नगरीको चलें। वहांसे अपने इच्छित कार्यकी मंत्रणा करेंगे।

[सव जाते हैं परदा पड़ता है।]

इति श्रीवादिचन्द्रसूरिविरचिते श्रीज्ञानसूर्योदयनामनाटके प्रथमोऽङ्कः।

अथ द्वितीयोऽङ्कः ।

प्रथमगर्भाङ्कः ।

स्थान—प्रबोधका राजभवन ।

[सम्यक्त्व आदि सामन्त बैठे हुए हैं । सत्यवती दासी एक ओर खड़ी हुई है । उपदेश चर (राजदूत) प्रवेश करता है ।]

उपदेश—राजन्! कुछ सुना?

प्रबोध—नहीं तो!

उपदेश—हरि हर और ब्रह्मा मोहके सहायक हो गये हैं ।

प्रबोध—मोहादिके साथ भला उनका परिचय कैसे हुआ?

उपदेश—महाराज! परिचय क्या हरि हरादिक तो उनमें तन्मय हो रहे है । बल्कि मायाकी ठगाईके जालने तो उन्हें और भी परस्पर बद्ध कर दिया है ।

प्रबोध—तब तो वे भी शत्रु हो गये!

उपदेश—स्वामिन्! मोहादि तो ठीक ही हैं । परन्तु हरि हरादि तो उनकी अपेक्षा भी अधिक द्वेष रखने लगे है ।

सम्यक्त्व—आयुष्मन्! चिन्ता न कीजिये।दयाको बुलवाइये।

प्रबोध—(दासीसे) सत्यवति! दयाको बुला ला ।

सत्यवती—जो आज्ञा!

(जाती है. परदा पड़ता है ।)

द्वितीय गर्भाङ्कः ।

स्थान—अन्तःपुर ।

[दया उदास बैठी हुई है, इतनेमें सत्यवती आती है ।]

सत्यवती—दये! राजकुलमें तुम्हारा स्मरण हुआ है ।

दया—(आश्चर्यमें) क्या प्रभुने मेरा स्मरण किया है? भला तू मुझसे झूठ क्यों बोलती है?

सत्यवती—तुम ऐसा क्यों पूछती हो कि, प्रभुने मेरा स्मरण किया है? तुम्हारे विना तो उन्हें कहीं जरा भी सुख नहीं है!

दया—सत्यवति! ऐसी झूठी वातें बनाकर भला तू मुझे क्यों व्यर्थ रंजायमान करती है?

सत्यवती—यदि झूठ कहती हूं, तो अब प्रत्यक्ष चलकर देख लेना। इस समय अधिक कहनेसे क्या? जैसे गृहस्थ लक्ष्मीके शोभको धारण करके समय व्यतीत करता है, उसी प्रकारसे महाराज तुझे हृदयमें धारण करके रात्रि दिन पूर्ण करते है।

[दया बड़ी उत्कंठाके साथ सत्यवतीके साथ चलती है। परदा पड़ता है।]

तृतीय गर्भाङ्कः।

स्थान—राजभवन।

द्वारपर सत्य पहरा दे रहा है। सत्यवतीके साथ दया प्रवेश करती है]

सत्य०—भगवति! महाराज एकान्तमें वैठे हुए तुम्हारा मार्ग निरीक्षण कर रहे है। इसलिये उन्हें शीघ्र चलकर संतुष्ट करो।

दया—महराजकी जय हो! जय हो! सर्व प्रकारसे वढ़ती हो! हम जैसी स्त्रियोंका आज किस कारणसे स्मरण किया गया?

प्रवोध—आओ, प्यारी! तुम्हारे विना मेरी सम्पूर्ण क्रियायें व्यर्थ हो रही है। कहा भी है,—

सुवृत्त शील संतोष अरु, वर विवेक सुविचार।
तुव विन सारे विफल हैं, तुही सदा सुखकार॥

[दयाका अधोदृष्टि करके लज्जित होना]

प्रवोध—प्रिये! तुम हमारे घरमें प्रधान हो, केवल स्त्री नहीं हो।

सम्यक्त्व—दये! संसारसमुद्रके सेतुस्वरूप श्री अरहंतदेवके चरणोंके समीप जाकर ये समस्त समाचार निवेदन करो। क्योंकि उनकी सहायताके विना अपनी जीत होना कठिन है।

दया—आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।

[दया जाती है और श्रीजिनेन्द्रदेवके समीप जाकर फिर प्रवेश करती है]

दया—महाराज! सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये।

प्रबोध—प्रिये! कहो, किस प्रकारसे हुए?

दया—किसी विद्वानका कथन है कि,—

भाग्य उदयसों मनुजके, सुरगन होत सहाय।
ताके उलटे होत हैं, स्वजन हु दुर्जनराय॥

राजा—अस्तु, बात क्या है, स्पष्ट कहो न?

दया—प्रभो! मैंने यहांसे अयोध्या जाकर प्रातःकाल ही धर्मोपदेशरूपी प्रकाशके द्वारा जगतके जीवोंका अज्ञानांधकार उड़ानेवाले श्रीअरहंत भगवानका एक चित्त होकर इस प्रकार स्तवन [1]किया कि,—

प्रभाती।

जगजन अघहरन नाथ, चरन शरन तेरी।
एकचित्त भजत नित्त, होत मुक्ति चेरी॥ टेक॥
होती नहिं विरद चारु, सरिता सम तुव अपार,
जनम मरन अगिनि शांति, होति क्यों घनेरी॥ १॥
कीनों जिन द्वेषभाव, तुमतैं तिन करि कुभाव,
रवि सनमुख धूलि फैंकि, निज सिरपर फेरी॥ २॥
शिवस्वरूप सुखदरूप, त्रिविधि-व्याधिहर अनूप,
विनकारण वैद्यभूप, कीरति बहु तेरी॥ जगजन०॥३॥

---

१ इस प्रभातीमें मूलके दो गाथाओंका और गद्यका आशय मात्र लिया गया है। इसके सिवाय इच्छानुसार नवीन शब्दोंका समावेश भी किया है।

स्तुति करनेके पीछे सर्वज्ञदेवने मुझसे कहा, "हे भगवति हे जगत्परोपकारिणी दये! आज किस कारणसे इस ओर आगमन हुआ?" तब मैंने कहा, "भगवन्! आपने मुझको शीलको संतोषको और प्रबोध राजाको आगे करके मुक्तिनगरमें प्रवेश किया था। परन्तु अब यह पापात्मा मोह हरिहरादिकी सहायता पाकर सपरिवार राजा प्रबोधको और सारे संसारको अपने अधिकारमें करना चाहता है। इससे महाराज प्रबोधको बहुत कष्ट हो रहा है। आप कष्टके नष्ट करनेवाले है, इसलिये जो अच्छा समझें उचित समझें, सो करें।" यह कहकर मै चुप हो रही।

प्रबोध—पीछे क्या हुआ?

दया—मुझसे अरहंत भगवानने कहा कि, "हे देवि! प्रबोधादिके उपकारको हम कभी नहीं भूलेंगे। हम उन सबके स्थानभूत हैं, और हमारे भक्त भी उनके ठिकाने हैं। अतएव हमारे सबके सब भक्तजन प्रबोधादिके साथ शीघ्र ही परिवारसहित आवें। कुछ भी विलम्ब न करें।" सर्वज्ञकी उक्त आज्ञा सुनकर मैं यहां दौड़ी हुई आई हूं। सो अब शीघ्र ही चलनेकी तयारी कीजिये। [राजा प्रबोधका सैनासहित अयोध्याको प्रस्थान]

[सब जाते हैं, परदा पड़ता है]

चतुर्थ गर्भाङ्क।

स्थान—राजा मोहकी सभा।

[अहंकार दम्भादि सामन्त बैठे हुए हैं। कलिकाल प्रवेश करता है]

कलि—महाराज! कुछ सुना भी?

मोह—नहीं तो!

कलि—कार्य कठिन हो गया।

मोह—सो क्यों?

कलि—प्रबोधादिने अरहंतको अपने पक्षमें कर लिये हैं। (कांपते हुए) इस बलाढ्य पक्षसे मेरा तो हृदय कांप रहा है।

अहंकार—आपने अपने हरिहरादि सहायक बना लिये तो क्या? और अरहंतदेव उनके पक्षमें पहुंच गये, तो क्या? आप मुझे आज्ञा दीजिये। फिर देखिये, मैं अकेला ही जाकर सबको समाप्त करता हूं कि, नहीं?

मोह—तुम अकेले ही कैसे सबको जीत लोगे?

अहंकार—आर्य! सुनिये, बिना किसीकी सहायताके ही एक अग्नि सारे संसारको भस्म कर सकती है। इससे स्पष्ट है कि, पुरुषका मंडन-भूषण एक सत्त्व अर्थात् तेज ही है।

दम्भ—भाई! इस तरह उद्धतताके वचन मत कहो। कुछ विचार करके कहो।

कलि—दम्भ महाशय ठीक कहते हैं। राजनीतिमें कहा है कि;—निर्बल भी मनुष्य यदि पक्षसहित हो, तो उसे शूरवीर नहीं जीत सकता है। देखो, यद्यपि सिंह बलवान है, परन्तु पक्षवान (पंखेवाले) किन्तु—बलहीन हंसको नहीं मार सकता है।

राजा—तुम ठीक कहते हो। अस्तु यह तो कहो कि, प्रबोधादिने अरहंतदेवको अपने पक्षमें कैसे कर लिये?

कलि—दयाके प्रयत्नसे!

राजा—तो अब क्या उपाय करना चाहिये?

कलि—उन लोगोंके दलमें एक दया ही सबसे बलवती है। इसलिये मेरी समझमें क्रोधकी प्रियतमा हिंसाके द्वारा उसका हरण

कराना चाहिये। वस, फिर सव काम सिद्ध हो गया समझिये। उसको जीत ली, कि, सवको जीत लिया। नीति भी यही कहती है कि—,

विक्रमशाली नर विना, वल निर्वल ह्वै जाय।
सैन्यसहित हू 'करन' विन, जय न लही 'कुरुराय'॥

अर्थात् जिस सैन्यमेंसे सारभूत सर्व शिरोमणि पुरुष चले जाता है, वह आखिर निर्वल हो जाता है। देखो, "कुरुवंशी राजा दुर्योधन एक कर्ण योद्धाके मर जानेसे विजय लक्ष्मीको नहीं पा सका।" इसके सिवाय दयाके हरण होनेपर उसकी माता भी अतिशय दुःखी होवेगी, और उसके दुःखसे दयाकी छोटी बहिन शांति भी खेद खिन्न हो जावेगी। अतएव महाराजको अनायास ही विजय प्राप्त होगी।

राजा—असत्यवति[1]! कोपकी स्त्री हिंसाका तो वुला लाओ।

असत्यवती—जो आज्ञा।

[असत्यवती जाती है, और कुछ देर पीछे जाज्वल्यमान विकराल लाल तथा पीले नेत्रोंसे घूरती हुई एक हाथमें धर्मको नष्ट करनेवाली तीखी तलवार, तथा दूसरे हाथमें रक्तपान करनेके लिये खप्पर सजाये हुए और पहले ही चारों ओर दयाकी खोज करती हुई हिंसा असत्यवतीके साथ प्रवेश करती हैं।]

राजा—आओ, श्रीमति हिंसे! आओ और जितनी जल्दी हो सकै, जाकर दयाका हरण कर लाओ, जिससे मेरा कुल स्वस्थ हो। जब तक दया जीती रहेगी, तबतक हम अपनी कुशलता नहीं देखते हैं।

---

1 एक दासी।

हिंसा—जो आज्ञा । मैं स्वभावसे ही संसारको पीड़ित करनेवाली हूं । फिर श्रीमानकी आज्ञा पानेपर तो कहना ही क्या है?

[भयंकर व्याघ्रीके समान हिंसा मोहराजपर कटाक्ष फैंकती हुई अतिशय कोमल दयारूप हरिणीकी खोजमें जाती है परदा पड़ता है.]

पञ्चमगर्भाङ्कः ।

स्थान—क्षमाका घर ।

[क्षमा रो रही है और शान्ति उसके पास बैठी है ।]

क्षमा—हे प्यारी बेटी! अपनी इस अभागिनी माताको छोड़कर तू कहां गई? हाय कमलनयनी! हाय कुन्दकलिकाके समान सुन्दर दन्तपंकतिवाली! तेरे विना अब मैं कैसे जीऊंगी? हाय, यह धर्मवृक्षकी जड़ किसने उखाड़के फेंक दी! हाय मेरा सर्वनाश हो गया!

शान्ति—(अंचलसे क्षमाके आँसू पोंछती है) माता! चिन्ता तथा आकुलता मत करो । आपकी बेटी सुखपूर्वक होगी ।

क्षमा—बेटी! विधाताके प्रतिकूल होनेपर सुख कैसे मिल सकता है—

जानकीहरन वन रघुपति गमन औ,
मरन नरायनको वनचरके वानसों ।
वारिधिको बंधन मयंकअंक क्षयीरोग,
शंकरकी वृत्ति सुनी भिक्षाटनवानसों ॥

---

१ जरत्कुमार भीलके वेषमें थे । २ भीख मांगनेकी आदतसे ।

कर्ण जैसे बलवान कन्याके गर्भ आये,
विलखे वन पांडुपुत्र जूआके विधानसों।
ऐसी ऐसी बातें अविलोक जहां तहां वेटी!
विधिकी विचित्रता विचार देख ज्ञानसों॥

खबर उड़ रही है कि, मोहने दयाका घात करनेके लिये हिंसाको भेजा है। इससे मेरा चित्त चिन्तासे व्यथित हो रहा है।

शांति—माता, यदि तुम्हारे चित्तमें ऐसा संदेह है, तो चलो, दयाका शोध करें कि, वह कहां है? यदि किसी दर्शनमें (मतमें) उसका पता लग जावे, तो अच्छा हो।

[दोनों चलती हैं]

[मार्गमें एक चौराहेपर खड़ी होकर]

शान्ति—(विस्मित होकर) मा! यह इन्द्रजालिया सा कौन आ रहा है।

क्षमा—नहीं, बेटी! यह इन्द्रजालिया नहीं है।

शान्ति—तो क्या मोह है?

क्षमा—(बारीकीसे देखकर) हां! अब मालूम हुआ। वेटी! यह मोह नहीहै, किन्तु मोहके द्वारा प्रचलित होनेवाला बुद्धधर्म है।

शान्ति—तो माता! इसीमें देखो, कदाचित् मेरी प्यारी बहिन मिल जावे।

क्षमा—अरी बावली! मेरे उदरसे जिसका जन्म हुआ और तेरी जो बहिन है, उसकी क्या बुद्धागममें मिलनेकी शंका करना ठीक है?

शान्ति—कदाचित् किसी प्रयोजनके वश आ गई हो, तो एक मुहूर्त मात्र खड़े होकर देखनेमें क्या हानि है?

द्वितीय अंक।

[बुद्धागमका प्रवेश]

बुद्धागम—(बुद्ध भक्तोंको उपदेश करता है।) संसारमें जितने पदार्थ हैं, ऐसा प्रतिभासित होता है कि, वे सब क्षणिक हैं। नवीन २ उत्पन्न होते हैं, और पूर्व पूर्वके विनष्ट होते जाते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा क्षणस्थायी है। एक पदार्थ पहले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है। जैसे दीपककी शिखा एकके पश्चात् एक उत्पन्न होती और नष्ट होती जाती है। जो शिखा अभी क्षणमात्र पहले थी, वह नहीं रहती है, उसके स्थानमें दूसरी उत्पन्न हो जाती है। अतएव प्यारे शिष्यो! जीवसमूहका घात करनेवालेको, मांसभक्षण करनेवालेको, स्त्रियोंके साथ स्वेच्छाचारपूर्वक रमण करनेवालेको, मद्यपायीको, और परधन हरण करनेवालेको कोई पाप नहीं लगता। क्योंकि आत्मा भी अन्य पदार्थोंकी नाईं क्षणक्षणमें बदलता है। इससे जो आत्मा कर्म करता है, वह जब दूसरे क्षणमें रहता ही नहीं है, तब किसका पुण्य और किसका पाप?

शान्ति—भला, विचारवान पुरुष इस असंभव बातको कभी

---

१ विभान्ति भावाः क्षणिकाः समग्राः
परं सृजन्ते हि विनाशवन्तः।
शिखेव दीपस्य परां सृजन्ती
स्वतः स्वयं नाशमुपैति सा द्राक् ॥ १ ॥

२ ततो घ्नतां जीवकुलं न पापं
समश्नतां मांसगणस्य पेशीः।
दारान् यथेष्टं रममाणकानां
पिबत्सु मद्यं हरतां परस्वम् ॥ २ ॥

मान सकते है? जो समवायकारण (उपादानकारण) पूर्वमें किसी धर्मयुक्त रहता है, वही अपरकार्यका आरंभक होता है । किन्तु जो समवायिकारण सर्वथा नष्ट हो जाता है, वह दूसरे कार्यका आरंभक नहीं हो सकता है । जैसे मिट्टीका पिंड सर्वथा नष्ट होकर घट उत्पन्न करनेका समवायिकारण नहीं हो सकता है । किन्तु पिंड पर्यायको छोड़कर घट पर्याय धारण करता है, और मृतिकापन दोनों अवस्थाओंमें मौजूद रहता है । इसके सिवाय जो सर्वथा क्षणिक होता है, वह एक ही क्षणमें दो कार्योंका कर्त्ता नहीं हो सकता है । क्योंकि स्थिति और उत्पत्ति दो कार्य दो क्षणोंमें होते हैं।

क्षमा—नहीं! क्षणिक मतानुयायी बौद्ध ऐसा नहीं कहते हैं । वे उत्पत्ति और विनाशको युगपत्—एक ही क्षणमें मानते हैं ।

शान्ति—यदि ऐसा है, तो उनके कार्यकारणभाव ही घटित नहीं होगा । क्योंकि पदार्थके पूर्वकालमें रहनेवाले धर्मको (पर्यायको) कारण कहते हैं, और उत्तर (आगामी) कालमें रहनेवाले धर्मको कार्य कहते हैं । इससे हे माता! यह क्षणिक मत जिसमें मिथ्या क्षणिक कल्पना की गई है, और इस लिये जो यथेच्छाचारी है, योग्यताका स्थान नहीं है । परन्तु माता! मुझे यह जाननेकी आकांक्षा है कि, यह मत कब और कैसे चला?

क्षमा—सुन शास्त्रकारोंने कहा है कि;—

सिरि पासणाहतित्थे सरऊतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहितासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढिकीत्तिमुणी ॥
तिमिपूरणासणेया अह गयपवज्जावओ परमभट्टो ।
रत्तंवरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥

मज्जं ण वज्जणिज्जं दव्व दवं जहा जलं तहा एदं ।
इदि लोये घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहियदुद्धसक्करए ।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंता ण पाविट्ठा ॥
अण्णो करोदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं ।
परिकप्पिऊण लोयं वसकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥ ५ ॥

अर्थात् श्रीपार्श्वनाथ भगवानके तीर्थमें, सरयू नदीके तीर, पलाशनगरके रहनेवाले पिहितास्रव गुरुके शिष्य, महाश्रुतके धारी, बुद्धिकीर्ति मुनिने मछलीका मांस अग्निमें भूनकर खा लिया। जिससे दीक्षाभ्रष्ट होकर उसने लाल वस्त्र धारण कर लिये, और यह एक एकांतरूप रक्तांबरमत (बौद्धमत) चलाया। "मद्य (शराब) वर्जनीय नहीं है। जैसे जल द्रव्य वहनेवाला है, उसी प्रकार यह भी है।" उसने लोकमें इस प्रकार घोषणा करके सावद्य अर्थात् हिंसायुक्त मतकी प्रवृत्ति की। मांसमें जीव नहीं है। जैसे फल, दही, दूध, शक्कर आदि पदार्थ हैं, उसी प्रकार मांस भी है। अतएव उसकी वांछा करनेवाला तथा उसे भक्षण करनेवाला पापिष्ठ नहीं हो सकता है। इसके सिवाय कर्मका करनेवाला कोई अन्य है और उसका फल कोई अन्य ही भोगता है। यह वात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी है। इस प्रकार परिकल्पना करके और लोगोंको वशमें करके वह बुद्धिकीर्ति नरकको गया।

शान्ति—(घृणासे) धिक्कार है, ऐसे धर्मको।

क्षमा—बेटी! मैंने तो पहले ही कहा था कि, ऐसे पापिष्ठोंके घर मेरी पुत्री नहीं होगी। अस्तु, चलो अब यहांसे चलें।

[दोनों थोड़ी दूर चलती हैं, कि साम्हनेसे याज्ञिक सिद्धान्त प्रवेश करता है]

शान्ति—माता! यह स्नान किये हुए कौन आया? क्या बगुला है?

क्षमा—नहीं प्यारी! यह 'राम राम' जपनेवाला है।

शान्ति—तो क्या तोता है?

क्षमा—नहीं, मनुष्याकार है। सारे शरीरमें तिलक छापे लगाये है। हाथमें दर्भके (दूबाके) अंकुर लिये है। और कंठमें डोरा (यज्ञोपवीत) डाले हुए है।

शान्ति—तो क्या दंभ है?

क्षमा—नहीं, दंभ नहीं है, किन्तु उसके आश्रयसे संसारको ठगनेवाला याज्ञिक ब्राह्मण है।

शान्ति—माता! यहां एक घड़ीभर ठहर जा, तो दयाको इसके पास भी देख लें। कदाचित् शीघ्रतासे यहां आ रही हो।

[दोनों एक ओर जाकर खड़ी हो जाती हैं]

याज्ञिक—(यज्ञभक्तोंको उपदेश देता है) मनु महाराजने कहा है कि,—

यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥
औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः।
यज्ञार्थं निधनं नीताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिं[1]॥

अर्थात् विधाताने पशुओंको स्वयं ही यज्ञके लिये बनाया है। और यज्ञ सम्पूर्ण जीवोंके लिये विभूतिका करनेवाला है। अतएव

१ मनुस्मृतिके पाचवें अध्यायका ३९ वॉ ४० वॉ श्लोक।

यज्ञमें जो जीव वध किया जाता है, वह अवध अर्थात् अहिंसा है। यज्ञके लिये जो औपधियां, पशुओंके समूह, वृक्ष, तिर्यंच, पक्षी, और मनुष्य मारे जाते है, अर्थात् जिनका हवन किया जाता है, वे उत्तमगति अर्थात् स्वर्गको प्राप्त होते हैं। और भी कहा है कि,—

"सोमाय हंसानालभेत वायवे वलाकाः इन्द्राग्निभ्यां क्रौञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय नक्रान् वसुभ्यः ऋक्षानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्याय न्यङ्कून्, मित्रवरुणाभ्यां कपोतान् वसंताय कपिञ्जलानालभेत ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन् शरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विकिरान् समुद्राय शिशुमारानालभेत पर्जन्याय मण्डूकान् मरुद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय चक्रवाकान्।"

"सुरा च त्रिविधा-पैष्टी गौडी माध्वी चेति।
सुत्रामणौ सुरां पिवेत् सोमपानं च कुर्यादिति॥"

अर्थात् "चन्द्रमाकी तृप्तिके लिये हंसोंका, वायुके लिये बगुलोंका, अग्नि तथा इन्द्रके लिये क्रौचोंका, मित्रदेवके लिये मद्गुओंका (जलकाकों का,) वरुणके लिये नक्रोंका (नाकोंका,) वसुके संतोषके लिये रीछोंका, रुद्रके लिये मृगोंका, आदित्यके लिये न्यंकू[1] मृगोंका, तथा मित्र और वरुणके लिये कबूतरोंका हवन करना चाहिये। वसन्तके लिये कपिंजल (तीतर) ग्रीष्मके लिये कल-

१ मूल संस्कृत पुस्तकमें इस शब्दकी टिप्पणीमें "जलचारीजीवविशेषः" ऐसा लिखा है, परन्तु कोषोंमें न्यकूको मृगोंका एक भेद लिखा है यथा—"मृगभेदा रुरुन्यङ्कुरङ्कुगोकर्णशम्बराः" इति हैमः।

विंक (चिड़ा), वर्षाके लिये तीतर, शरदके लिये वर्त्तिका[1] (वतक) हेमन्तके लिये ककर, और शिशिरके लिये विकिर अर्थात् पक्षी मात्र हनन करना चाहिये । समुद्रके लिये शिशुमार (एक जातिकी मछली), पर्जन्यके (मेघके) लिये मेंडक मरुत्के लिये मच्छ, मित्रके लिये कुलीपय और वरुणके लिये चक्रवाकका होम करना चाहिये ।" और,—

"मदिरा तीन प्रकारकी है । पैष्टी, गौड़ी, और माध्वी । सौ सुत्रामण यज्ञमें सुरा पीना चाहिये, और सोमपान करना चाहिये ।"

[शान्ति मूर्छित होती है]

क्षमा—(कानोंको हाथसे वन्द करके) प्यारी वेटी! उठ, यहां एक मुहूर्त मात्र ठहरना भी उचित नही है । क्योंकि ऐसे हिंसक वचनोंके सुननेसे पूर्वका संचय किया हुआ भी पुण्य नष्ट हो जाता है ।

शान्ति—(उठकर) मातः! जो सोमपान करते है, उनके गंगा स्नानसे क्या और " ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम् ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" इस प्रकार गायत्रीमंत्रका पाठ करनेसे क्या?

क्षमा—निस्सन्देह, इनका धर्माचरण वड़ा भयानक है । इनके संसर्ग करनेसे लोगोंके समीप पुण्य कर्म तो खड़ा भी नहीं रहता होगा ।

शान्ति—क्या ये पापी इन प्रसिद्ध वचनोको नहीं जानते है कि,—

---

१ भाषाकारोंने इसका अर्थ वटेर पक्षी लिखा है ।

मनभर माटीसों नहीं, शत घट जलसों नाहिं।
कोटि तीर्थसों हू नहीं, पाप पखारे जाहिं॥

तब इस मतमें दयाकी संभावना नहीं हो सकती। कहीं दूसरी जगह खोज करना चाहिये।

[दोनों आगे चलती हैं कि, एक ओर बैठा हुआ नैयायिक दिखाई देता है]

शान्ति—(विस्मित होकर) यह विप्र कौन है?

क्षमा—यह श्वेतमजमालभेत भूतिकामः अर्थात् "विभूतेके-सम्पत्तिके चाहनेवाले पुरुषको सफेद बकरेका वध करना चाहिये" इस वाक्यको प्रमाण माननेवाला नैयायिक है।

शान्ति—अच्छा तो चलो समीप चलके सुनें, कि यह किस पक्षका पोषण करता है।

नैयायिक—(हाथमें न्यायकी पुस्तक लिये हुए अपने विद्यार्थियोंको पढ़ाता है। विद्यार्थी पढ़ते हैं।)

एक विद्यार्थी—"जगतः कर्त्ता शिव एकः।" अर्थात् जगत्का कर्त्ता एक शिव है।

दूसरा वि०—नवानामात्मविशेषगुणानां समुच्छेदो मोक्षः अर्थात् आत्माके सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अधर्म, धर्म, ज्ञान और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंके अभावको मोक्ष कहते हैं।

तीसरा वि०—याज्ञीहिंसा अधर्मसाधिका हिंस्यत्वात् क्रतुबाह्यहिंसावदित्यादौ निषेधत्वमुपाधिः। अर्थात् ऐसा

---

१ मृदो भारसहस्रेण जलकुम्भशतेन च।
न शुद्ध्यन्ति दुराचाराः स्नातास्तीर्थशतेष्वपि॥

कहकर जो निषेध करते है कि, "यज्ञसम्बन्धी हिंसा अधर्मकी साधिका है। क्योंकि यज्ञबाह्य हिंसाके समान उसमें भी जीवोंका हनन होता है।" सो उपाधि है।

शान्ति—माता! यह क्या वकता है कि, "जगतका कर्ता शिव है।" भला, अनादिसंसिद्ध जगत्की उत्पत्ति कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि इसमें अतिप्रसग (अतिव्याप्ति) दोष उपस्थित होता है। प्रवल होनेपर भी सर्वज्ञ गधेके सींगोका उत्पादक नहीं हो सकता। क्यो कि "जिस प्रकार सर्वथा सत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार सर्वथा असत्की भी नहीं हो सकती है, ऐसा नियम है। जो वस्तुएं कथंचित् सत्रूप तथा कथंचित् असत्रूप है, उन्हींमें उत्पत्ति अनुत्पत्ति संभव हो सकती है। सर्वथा सत् अथवा असत् वस्तुओंमें नहीं। और दूसरा यह क्या पढ़ता है कि "आत्माके नव गुणोंके अभावको मोक्ष कहते है" ऐसा माननेसे तो आत्मस्वरूपकी ही हानि हो जाती है।

क्षमा—बेटी! इस मतका यह सिद्धान्त है कि, ज्ञानादिक गुण अदृष्टजन्य हैं। इसलिये अदृष्टादिके अभावसे तज्जन्य ज्ञान सुखादिका भी अभाव होता है। क्योंकि कारणके अभावसे कार्यका अभाव प्रसिद्ध है। अदृष्ट कारण है और ज्ञानादिक कार्य है।

शान्ति—मा! अदृष्टजनित ज्ञानसुखादि गुणोका ही नाश हो सकता है, न कि अनादिभूत आत्माका, जो कि किसी नयकी अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्धसे निरन्तर सम्बन्धित है, किसी कर्मके कारण आच्छादित है, और इसी प्रकारसे कर्मावरण नष्ट होनेपर शुद्ध स्वरूपसे प्रगट होनेकी जिसमें शक्ति है। उस आत्माके अ-

नन्त सुखादि गुणोंका नाश कहकर नैयायिक अपनी हँसी कराता है। क्योंकि ज्ञानादिकका अभाव होनेसे तो आत्माका भी अभाव हो जावेगा। काष्ठसे उत्पन्न होनेवाली ज्वालाका अभाव हो सकता है. परन्तु अग्निमें तादात्म्य भावसे रहनेवाली जो उष्णता है, उसका अभाव होना असंभव है। जिस समय उष्णताका अभाव होगा, उस समय अग्निका स्वयं नाश हो जावेगा। क्योंकि अग्नि उष्णतास्वरूप ही है। यही दृष्टान्त आत्माके ज्ञानादि गुणोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिये ज्ञानके अभावमें आत्माका अस्तित्व कभी नहीं रह सकता। परन्तु उसके अदृष्टजन्य जो सुखदुःखादि विकार हैं, उनका अदृष्टके अभाव होनेपर अभाव हो सकता है।

क्षमा—परन्तु नैयायिकका मत है कि, ज्ञानादि (वुद्ध्यादि) गुण आत्माके स्वरूप नहीं है; किन्तु घटके समान अत्यन्त पृथक् है। इसलिये जैसे घटके नाश होनेपर पटका नाश नहीं हो सकता है, उसी प्रकारसे वुद्ध्यादिके अभावसे आत्माका अभाव नहीं हो सकता है।

शान्ति—इससे सिद्ध हुआ कि, दोनोंमें भेद मानते हैं। अच्छा तो लोकमें यह कहनेका व्यवहार कैसे चल रहा है कि, "वुद्धि आदि आत्माके गुण हैं।"

क्षमा—समवाय सम्बन्धसे। अर्थात् गुण और गुणीमें यद्यपि सर्वथा भेद है, परन्तु सम्बन्ध विशेषसे ऐसा कहनेका व्यवहार है।

शान्ति—जब गुण और गुणीमें सर्वथा भेद है, तब उनमें

---

१ गुणोंका नाश होनेपर गुणीका सद्भाव नहीं रह सकता है। आत्मा गुणी है और नौ उसके गुण है। जब ये गुण ही नहीं रहेंगे, तो फिर गुणी आत्मा कैसे रहेगा, उसका भी अभाव हो जावेगा।

किसी प्रकारका सम्बन्ध कहना ही मूर्खता है। क्योंकि जो सर्वथा भिन्न है, उनमें जब एकत्व ही सिद्ध नहीं होता है, तो फिर समवायसम्बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि शास्त्रमें समवायसम्बन्धका लक्षण इस प्रकार कहा है कि, **"अपृथक्सिद्धयोर्गुणगुणिनोः सम्बन्धः समवायः"** अर्थात् जो पृथक् सिद्ध नहीं है; ऐसे गुणों और गुणियोंके सम्बन्धको समवाय कहते हैं। जैसे तन्तु और वस्त्र। वस्त्रसे उसके तन्तु भिन्न नहीं है। तन्तुरूप ही वस्त्र है। अतएव तन्तु और वस्त्र दोनोंका समवायसम्बन्ध है। जैनाचार्य समवायको भिन्न पदार्थ अंगीकार नही करते हैं। किन्तु कुमारिल आचार्यके मतके समान गुण और गुणीमें तादात्म्य अर्थात् एक वस्तुत्व मानते है। पदार्थसे न्यारे, नित्य, एक तथा पृथक् समवायका शास्त्रमें खूब निराकरण किया है। अतएव मेरी समझमें इस नैयायिकसे तो वेदान्त ही अच्छा है। उसमें आनन्दाविर्भूत आत्माका स्वरूप तो कहा है।

क्षमा—हे माता! सच्चे निर्दोष अनुमानोंको भी अपने सिद्धान्तके अनुकूल और दूसरोंके सिद्धान्तोंसे अमान्य दोषोंसे दूषित अर्थात् झूठे बनाकर[1] हिंसाके प्रतिष्ठित करनेवाले नैयायिकोंमें दया कहांसे आवेगी? अतएव इससे भी पराङ्मुख होना चाहिये।

[दोनों आगे चलती हैं]

---

१ इस पदका यह अभिप्राय है कि, नैयायिक लोग दूसरोंके अनुमान जिन प्रमाणादिकोंसे दूषित बतलाते हैं, उन प्रमाणोंके लक्षण ही यथार्थमें झूठे किये गये हैं। उन्हें केवल वे ही अभीष्ट मानते हैं, दूसरे मतवाले नहीं मानते। इसलिये जब उनके माने हुए लक्षण ही दूषित कल्पित और आभासरूप हैं, तब उनसे जिन सच्चे अनुमानोंका खडन किया जाता है, वे कभी दूषित अमान्य और असिद्ध नहीं हो सकते हैं।

[आगे एक स्थानमें ब्रह्माद्वैत अपनी शिष्यमंडलीसहित बैठा है]

शान्ति—(खड़े होकर आश्चर्यसे) यह कौन दर्शन है?

क्षमा—बेटी! यह ब्रह्माद्वैत दर्शन है।

शान्ति—माता! तो चलो, इसमें भी अपनी प्यारी बहिन दयाका शोध करूं।

ब्रह्माद्वैत—(अपने शिष्योंको पढाता है)—

एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
अविद्योद्भूतसंकल्पाद्भेदबुद्धिः प्रजायते ॥

अर्थात् जितने पदार्थ हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्मके अतिरेक्त कुछ नहीं है। इस संसारमें एक अद्वितीय ब्रह्म ही है। अनेक कुछ भी नहीं है। जो एक ब्रह्मसे भिन्न दूसरेकी भेदबुद्धि उत्पन्न होती है, सो सब अविद्यासे उत्पन्न हुए संकल्पके कारण होती है। सारांश यह है कि, एक ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं है। जो भेद है, सो अनादि अविद्याजन्य संकल्पसे है, मिथ्या है, यथार्थमें नहीं है। यह ब्राह्मण यह क्षत्री यह वैश्य इत्यादि मानना भ्रम है। ब्रह्मके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है।

शान्ति—मा! यह क्या कहता है कि, एक ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं है। मैं पूंछती हूं कि, वह भेदबुद्धिकी उत्पन्न करनेवाली अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है, कि अभिन्न? यदि भिन्न है, तो द्वैतापत्तिः होती है, अर्थात् ब्रह्मके सिवाय एक दूसरा पदार्थ सिद्ध होता है, जो स्वमतविरोधक है। और यदि अभिन्न है, तो उसे ब्रह्म ही क्यों नहीं कहते? सर्वथा भेद माननेके समान सर्वथा अभेद मानना भी कल्याणकारी नहीं है। यथार्थमें भेदाभेद पक्ष अर्थात् क-

थंचित् भेदरूप और कथंचित् अभेदरूप मानना ही ठीक है, जिसमें दोनों ही पक्षके दोषोंको अवकाश नहीं मिलता है । अर्थात् ऐसा माननेसे सर्वथा भिन्न माननेमें जो दोष उपस्थित होते हैं, वे नहीं आवेंगे, और सर्वथा अभिन्न माननेमें जो दोष आते हैं, उनकी भी संभावना नहीं होगी । तो हे माता! अब यहांसे भी चलो । यह मत भी सारभूत नहीं है । जिसमें दया-दान-पूजन-पठन-तीर्थयात्रादि व्यवहारोंको सर्वथा जलांजुलि दे डाली है, भला उसमें अपना मनोरथ कैसे सिद्ध हो सकता है? [दोनों आगे चलती हैं]

शान्ति—(किसीको आते देख भयभीत होकर) हे माता! राक्षस है! राक्षस!!

क्षमा—नहीं बेटी! भय मत कर, दिवसमें राक्षस नहीं मिलते।

शान्ति—तो यह जो साम्हनेसे आ रहा है, कौन है? क्या दुर्भिक्ष है?

क्षमा—नही! नहीं! दुर्भिक्ष नहीं है।

शान्ति—तो क्या मूर्तिमान दंभ है?

क्षमा—नही दंभ भी नहीं है, किन्तु दुर्भिक्ष और दंभसे उत्पन्न होनेवाला, श्वेताम्बर संघ है। जो पांच जैनाभास[1] हैं, उनमें एक यह भी है।

[महादुर्भिक्षमे दु:खी, जिव्हालपटी, जिनकल्पी मार्गको छोड़कर भिखमंगोंके डरसे हाथमें दंड, भिक्षाके लिये पात्र और दयाका ढोंग दिखलानेके लिये दंड आसन परिग्रह लिये हुए तथा छिदे कानोंसे मुखपटी बांधे हुए श्वेताम्बर यति आता है, और श्रावकके द्वारपर आकर खड़ा होता है]

---

१ श्वेताम्बर, काष्ठासंघ, द्राविड़ीय, निपिच्छ और यापनीय ये पांच जैनाभास इन्द्रनंदिकृत दर्शनसारमें कहे हैं।

श्वेताम्बरयति—(श्राविकाको उपदेश देता है) हे उपासिके! देख श्रीगौतमस्वामीके प्रश्न करनेपर भगवान् महावीर स्वामीने उपदेश दिया है कि,—

सयणासण वच्छं वा पत्तं वाणी य वा विहिणा।
एणं देई तुठो गोयम! भोई णरो होदि॥
देइय ण णियं सत्तं वारइ हारयेदिण्णमण्णेण।
एएण वि कम्मेण य भोगेहि विवज्जिओ होई॥

अर्थात् "जो दाता संतुष्ट चित्तसे यतियोंको शयन, आसन, वस्त्र, पात्र, और शास्त्रका विधिपूर्वक दान करता है, हे गौतम! वह अनेक भोगोंका भोगनेवाला होता है। और जो आप तो स्वयं देता नहीं है, और दूसरे देनेवालेको रोकता है, अथवा दिया हुआ छीन लेता है, सो इस पापकर्मसे भोगवर्जित होता है।" और आवश्यक-गाथामें भी कहा है कि,—

बत्तिसदोसविसुद्धं कियकम्मं जो पउज्जए गुरूणं।
सो पावइ णिव्वाणं अचिरेण विमाणवासं च॥

अर्थात् "जो बत्तीस दोषरहित कृतकर्म (युक्ताचारी) गुरुकी पूजा वन्दना करता है, सो शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त होता है, अथवा विमानवासी देव होता है।"

[यति इस प्रकार प्रातःकाल व्याख्यान करके चला जाता है, और दोपहरको भिक्षाके लिये भ्रमण करता हुआ एक दूसरे गृहस्थके द्वारपर पहुंचता है]

यति—(गृहस्थकी स्त्रीसे) धर्मलाभ हो।

श्राविका—(उठकर) महाराज! अन्न तो नहीं है।

यति—तो जो कुछ प्रासुक वस्तु हो, वही मुनिको देना चाहिये। अन्नहीका अन्वेषण क्या करती है?

श्राविका—और तो कुछ नही है, एक दिन और एक रात पहलेका पडा हुआ नवनीत (मक्खन) अवश्य ही रक्खा है ।

यति—तो वही लाकर दे दो । भूखकी ज्वाला पेटको जला रही है ।

श्राविका—महाराज! क्या मक्खन भी यतियोंके ग्रहण करने योग्य होता है? **श्रीभगवतीसूत्रमें** तो इसका निषेध किया है,—

महु मज्ज मंस मक्खण त्थीसंगे सव्व असुइठाणेसु ।
उप्पज्जंति चयंति य समुच्छिमा मणुयपंचेदी ॥

"अर्थात्—मधुमें, मद्यमें, मासमें, मक्खनमे, स्त्रीसंगमे, तथा उसके सम्पूर्ण अपवित्र स्थानोंमें सम्मूर्च्छेन मनुष्यपंचेन्द्री जीव उत्पन्न होते है, और मरते है ।"

यति—इसी लिये तो कहते है कि, स्त्रियोंको सिद्धान्त वचन नही पढ़ाना चाहिये । इस विषयमें तू क्या विचार करती है? सुन,—

णियदेहं छेत्तूणं संतीसो पुव्वकालम्मि ।
पारावयतणुमत्तं मंसं गिद्धस्स देइ सद्दिट्ठि ॥

श्रीशांतिनाथ तीर्थंकरने पूर्व भवमें सम्यग्दृष्टि होकर भी कबूतरके शरीरके बराबर अपने देहका मास काटकर **गृद्धपक्षीको** दिया था । सो हे उपासिके! हम गृद्धसे भी निकृष्ट नही है । हम पात्र है । भला जब विदेह क्षेत्रमें शान्तिनाथके सम्यग्दृष्टी जीवने कुपात्र गृद्धको मास दिया था, तब क्या तू उनसे भी अधिक ज्ञानवान हो गई? परन्तु तू पढ़ी हुई है, इसी लिये ऐसा विचार करती है!

श्राविका—तो भगवन्! क्या गुरुके लिये हिंसा करना चाहिये?

यति—करना चाहिये, क्या इसमें तुझे कुछ सन्देह है? सुन, शास्त्रमें कहा है कि,—

देवगुरूणं कज्जे चूरिज्जइ चक्कवट्टिसेणंपि।
जो ण विचूरइ साहू सो अणंतसंसारिओ होदि॥

अर्थात्—"देव और गुरुके कार्यके लिये चक्रवर्तीकी सेनाको भी चूर्ण कर डालना चाहिये। जो साधु समर्थ होकर भी ऐसा नहीं करता है, वह अनन्त संसारी होता है।" और हे मूर्खे! तूने क्या शास्त्रमें नहीं सुना है कि, गुरुकी रक्षाके लिये सिंहोंको भी मारा है। इसके सिवाय साधुओंके भरणपोपणके विषयमें और भी कहा है कि,—

नववर्गचये साधून् पोपयन्ति दिने दिने।
प्रफुल्यन्ते गृहे तेपामचिरं कल्पपादपाः॥

अर्थात्—"जो पुरुप नववर्गोंसे साधुओंका प्रतिदिन पोषण करते हैं, उनके घर शीघ्र ही कल्पवृक्ष फूलते है। साराश उनकी सम्पूर्ण इच्छायें पूर्ण होती है।" मधु, मांस, मद्य, मक्खन, दधि, दुग्ध, घी, इक्षुरस (सांठेका रस) और तैल इन नौ पदार्थोंको नव वर्ग कहते हैं।

श्राविका—अच्छा तो महाराज! मक्खन गृहण कीजिये।

[यति मक्खन ले लेता है, और फिर किसी मिथ्यादृष्टिके यहांसे भोजन भी लाकर एक स्थानमें बैठकर खाता है]

शान्ति—माता! इनमें भी मुझे दया नहीं दिखती है।

क्षमा—अरी बेटी! दया तो बड़ी बात है, उसकी तो कथा ही छोड़, इनके पास तो सत्यका भी निर्वाह नहीं है। बड़े ही असत्यवादी हैं।

शान्ति—सो कैसे?

क्षमा—ये **मल्लिनाथ** तीर्थंकरको कहते तो हैं स्त्री, और पूजते हैं, पुरुषके आकारकी मूर्ति बनाकर। इसके सिवाय और भी अनेक बातें सिद्धान्तोंके विरुद्ध कहते हैं।

शान्ति—उनमेंसे थोड़ी बहुत मुझे भी सुना दे।

क्षमा—एक तो यही कि, सम्पूर्ण शास्त्रोंमें जुगलियोंको देवगति कही है। परन्तु ये महात्मा **मरुदेवी** और **नाभिराजा** दोनोंको मोक्ष गये बतलाते हैं।

शान्ति—तो क्या ये स्त्रियोंको भी मोक्ष मानते हैं? शास्त्रमें तो इस विषयमें कहा है कि,—

जदि दंसणो हि सुद्धा सुत्तज्झयणेण चापि संजुत्ता।
घोरं चारिदुचरियं इत्थिस्स ण णत्थि णिव्वट्टी॥

अर्थात् "स्त्री शुद्ध सम्यग्दर्शनकी धारण करनेवाली हो, सूत्रोंका अध्ययन भी करती हो, और घोर चारित्रका धारण भी करती हो, परन्तु उसके परिणामोंसे वह उत्कृष्ट निर्जरा नही हो सकती है, जो निर्वृत्ति अर्थात् मोक्षकी कारण होती है।"

क्षमा—(शान्तिको श्वेताम्बर यतिकी ओर हँसते हुए देखती देखकर) बेटी! देखती क्या है? ये श्वेताम्बरी बौद्धोंके छोटे भाई हैं। ये भी बहुत विरुद्ध सैकड़ों नये २ सिद्धान्त कल्पित करके मार्गसे भ्रष्ट हो गये हैं।

शान्ति—हे माता! ये श्वेतपट (श्वेताम्बरी) भला किस समयमें उत्पन्न हुए हैं?

क्षमा—विक्रम राजाकी मृत्युके एक सौ छत्तीस वर्ष पीछे सौराष्ट्र देशके वल्लभीपुर नगरमें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति हुई है। श्रीभद्रबाहु गणिके शान्त्याचार्य नामके शिष्य थे। और उनके जिनचन्द्र नामका एक दुष्ट शिष्य था। उसीने इस शिथिलाचारकी प्रवृत्ति की और स्त्रीको उसी भवमें मोक्ष, केवलज्ञानीको कवलाहार तथा रोगवेदना, वस्त्रधारी यतिको निर्वाण, महावीर भगवानका गर्भहरण, अन्य लिंगसे (जैनियोंके सिवाय अन्य साधुओंके वेषसे) मुक्ति, और चाहे जिसके यहांका प्रासुक भोजन ग्रहण करनेमें दोषाभाव इत्यादि और भी आगमदुष्ट और शास्त्रसे विरुद्ध उपदेशके देनेवाले मिथ्या शास्त्रोंकी रचना की और उसके फलसे आपको पहले नरकमें पटका। बेटी! दिगम्बर मतमें कलह करके और एक ही सिद्धान्तके विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करके भिन्न भिन्न मार्गोंके ग्रहण करनेवाले इन श्वेताम्बरियोंको क्या अब भी तू नहीं देखती है? [2]

---

१ एकसये छत्तीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीये उप्पण्णो सेवड़ो संघो ॥ १ ॥
सिरिभद्दबाहुगणिणो सिस्सो णामेण सांतिआइरिओ।
तस्सय सिस्सो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥ २ ॥
तेणकयं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो। इत्यादि०

२ इस ग्रन्थके भाषाटीकाकार प० पारसदासजीने यहांपर अपनी ओरसे बहुत कुछ लिखा है और उसमें केसर लगानेवालोंको, पुष्पमाला चढानेवालोंको, मंदिरमें क्षेत्रपाल पद्मावती स्थापित करनेवालोंको तथा उनकी पूजा करनेवालोंको भी जैनाभास मार्गच्युत भ्रष्ट बतला दिया है। भाषा बांचनेवालोंको ऐसे ग्रन्थ बांचनेसे श्रद्धान हो जाता है कि, मूल ग्रन्थोंमें बड़े २ आचार्योंने भी ऐसा लिखा है। परन्तु यह कोई नहीं जानता है कि, अनेक भाषा करनेवाले महाशयोंने इस तरह अपनी स्वतन्त्र लेखनी भी चलाई हैं। अनुवादक।

शान्ति—यदि ऐसा है, तो यहांसे इस अपवित्रताके स्थानभूत मतको छोड़के आगे चलना चाहिये।

(दोनोंका एक ओरको गमन)

शान्ति—(डरकर) माता! यह भस्मसे शरीरको लपेटे हुए, कौन आ रहा है? कोई भूत तो नहीं है?

क्षमा—नहीं, भूत नहीं है।

शान्ति—तो क्या नरकके बिलोंसे निकला हुआ नारकी है?

क्षमा—नहीं नारकी भी नहीं है।

शान्ति—तो यह ऐसा कौन है?

क्षमा—यह कापालिक धर्म है।

शान्ति—अच्छा, तो चलो क्षणभर इसको भी देखें।

[स्मशानकी भस्मसे शरीर लपेटे हुए, हाड़ोंकी मालाका सुन्दर आभूषण बनाये हुए, स्त्रीके कुचोंको अपनी दोनों भुजाओंसे आलिंगन किये हुए, और लाल नेत्र किये हुए, भैरवका भक्त कापालिक प्रवेश करता है।]

कापालिक—(अपनी स्त्रीसे कहता है)

मत्तगयन्द।

पीजिये प्यारी! मनोहर मद्य,
मनोजकी मौज बढ़ावत जोई।
खाइये खूब पराक्रमि मांस,
जवानीके जोरमें उद्धत होई॥
गाइये गान अनंग जगावन,
वीणा बजाइये आइये दोई।
बोलिये बात यही दिनरात कि,
"देहसों भिन्न न आतम कोई"॥

(फिर गाता है)

शान्ति—माता! यह नीच क्या कह रहा है कि, देहसों भिन्न न आतम कोई! क्या यह नहीं जानता है कि, शरीरसे पहले और पीछे भी अमूर्तीक चैतन्य आत्मा रहता है। क्योंकि वह सदकारणवत्व है। अर्थात् जिन पदार्थोंका अस्तित्व तो हो, परन्तु उनका कोई कारण नहीं हो, वे पदार्थ नित्य होते हैं। जैसे कि आकाश। यद्यपि आकाशका अस्तित्व है। इसलिये वह एक पदार्थ तो है, परन्तु उसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है, अतएव नित्य है।

क्षमा—परन्तु (इसके मतसे) पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति ये पंचभूत पदार्थ जीवकी उत्पत्तिके कारण हैं। इसलिये बेटी! तेरा हेतु असिद्ध है।

शान्ति—नहीं, यह मेरा हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि पंचभूत स्वयं अचैतन्य—जड़स्वरूप है। इसलिये वे चैतन्यके उत्पन्न करनेवाले नहीं हो सकते हैं। जैसे कि, क्रिया द्रव्यको उत्पन्न करनेवाली नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि, विजातीय कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। द्रव्य और क्रिया विजातीय हैं। इसलिये क्रिया कार्यका उपादान कारण नहीं हो सकती है। इसी प्रकारसे पंचभूत जो कि अचैतन्य हैं, चैतन्यस्वरूप विजातीय आत्माके उपादान कारण नहीं हो सकते हैं।

क्षमा—अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तेरा यह हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि गोबरसे बिच्छुओंकी उत्पत्ति देखी जाती है।

१। सदकारणवन्नित्यमिति वचनात्।

२। भैंसेके गोबरमें गधेका मूत मिलाकर रखनेसे कुछ समयके पश्चात् सम्मूर्छन बिच्छू उत्पन्न हो जाते हैं।

शान्ति—नहीं, मेरा हेतु व्यभिचारी कभी नहीं है। क्यों गोवरसे विच्छुओंके शरीरकी उत्पत्ति होती है, न कि उनके चैतन्यरूप आत्माकी।

क्षमा—वेटी! वहुत ठीक कहती है। यथार्थमें ऐसा ही है। ये स्वपरात्मशत्रु तेरे तत्त्वोंको नहीं समझ सकते हैं। इनके यहां दयाका कोई प्रयोजन नहीं है। यह मत केवल इस लोकसम्बन्धी सुख भोगनेके लिये वना है। चलो, दयाकी कहीं अन्यत्र खोज करें।

[एक ओरको जाती है]

[नाचते गाते वजाते हुए वहुतसे वैष्णवोंका प्रवेश]

शान्ति—माता! ये कौन है, जो दोनों हाथोंसे मंजीरा और मृदंगोंकी मधुर ध्वनि कर रहे है, अपने मनोरम कंठसे वीणाकी मधुरताको जीत रहे है, सारे शरीरमें तिलक लगाये हुए है. और कठमें तुलसीके मणियोंकी माला पहने हुए हैं?

क्षमा—वेटी! ये वैष्णवजन है। प्रतिदिन घर घर जाकर जागरण करते है, और विष्णुका भजन किया करते है।

शान्ति—इनका आचार कैसा है?

क्षमा—तोतेके समान जप तो राम रामका किया करते है, परन्तु वैसा मनोज्ञ आचरण नहीं करते है। मुखसे राम रामका गान करते है, और नेत्रोंसे मनोहर रामाका (स्त्रीका) पवित्र दर्शन करते हैं। परन्तु देवकी ओर नजर भी नहीं उठाते हैं। इनका रात्रिजागरण प्राय सुरतलीलाके लिये ही होता है, देवसेवाके लिये नहीं। किसीने कहा भी तो है,—

राग सारंग ।

हरिजन निशदिन मौज उड़ावैं ॥ टेक ॥
मलय मनोहर केशर लेकर,
सीस कपोल भुजा लिपटावैं ।
कर्णकुहर कस्तूरीपूरित,
हृदय गुलाल लाल बिखरावैं ॥ १ ॥
एला ताम्बूलादिक खाकर,
मुख रँगि रुचिर सुगंधि उड़ावैं ।
(अंजनमय खंजनसे दृगपर,
मदनवान धरि तान चलावैं) ॥ २ ॥
आधीरात बजाय गायके,
राग रंगमें रँगे गमावें ।
गृहवासिनकी नारिनकें फिर,
लिपटि गलेसों शेष वितावैं ॥ ३ ॥

फिर इनके आचरणकी परीक्षा क्या करोगी? जैसे देव वैसे ही उनके भक्त। जहां देव स्वयं अपनी स्त्रियां भक्तजनोंको देते हैं, वहां भक्तजन उन स्त्रियोंको कैसे ग्रहण नहीं करें?

[इस प्रकार शान्ति और क्षमा सम्पूर्ण मतोंकी परीक्षा करके दिगम्बर शासनमें आईं और वहां उन्होंने शास्त्रगता परीक्षाके दर्शन किये ।]

[पटाक्षेप]

इति श्रीवादिचन्द्रसूरिविरचिते श्रीज्ञानसूर्योदयनाटके द्वितीयोऽङ्कः समाप्तः।

---

१ चञ्चच्चन्दनकेशराङ्कितभुजाशीर्षप्रगण्डस्थलाः ।
संराजन्मृगनाभिकर्णकुहरा हृद्योच्छलच्चूर्णकाः ॥
प्रेङ्खत्पर्णसुरंगरागवदना नीत्वार्द्धरात्रं पुनः ।
शेषार्द्धं गमयन्ति वैष्णवजना दारैर्मुदा गेहिनाम् ॥

अथ तृतीयोऽङ्कः ।

प्रथम गर्भाङ्कः ।

स्थान—एक दिगम्बरजैनमन्दिर ।

[प्रबोधकी बहिन परीक्षा बैठी हुई है, क्षमा और शान्ति प्रवेश करती है ।]

परीक्षा—प्रिय क्षमे! मिथ्यादृष्टियोंके स्थानोंमें तुम क्यों भ्रमण करती फिरती थीं? उनमें क्या तुम्हारी पुत्री दया कभी मिल सकती है?

क्षमा—परीक्षे! तुम सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करानेवाली हो। कहीं मेरी पुत्री देखी सुनी हो, तो तुम ही कहो न?

परीक्षा—निश्चयसे तो नहीं कह सकती हू। परन्तु एक किंवदन्ती सुनी है, जिससे दयाका कुछ २ पता लगता है। वह यह है कि,—

स्वर्ग मध्य पातालमें, नहिं कहुं दया दिखाय।
भव-भय-भीत-यतीनके, रही हृदयमें जाय ॥

और मेरा भी यही विश्वास है कि, यदि कहीं होगी, तो दिगम्बर मुनियोंके हृदयमें ही होगी।

शान्ति—(हर्षसे नृत्य करती है) प्यारी सखी! सुना था कि, कालराक्षसी हिंसा उसका घात करनेके लिये गई थी। यदि तुम जानती हो, तो कहो कि, उससे बेचारी दयाका उद्धार किस प्रकारसे हुआ।

परीक्षा—यह मुझे नहीं मालूम है कि, वह कैसे जीवित रही। परन्तु इसका पता लगाना कुछ कठिन नहीं है। चलो, तीनों उसके पास चलकर पूछें। वह स्वयं बतलावेगी।

[तीनों एक ओरको चलती हैं कि, इतनेमें भयसे कांपती हुई दया प्रवेश करती है]

शान्ति—(स्वगत) जान पड़ता है, यह भयसे कांपती हुई मेरी बड़ी बहिन दया आ रही है। इस लिये चलूं, और सम्मुख जाकर उसे नमस्कार करूं। [चलती है, क्षमा भी उसके साथ जाती है]

क्षमा—बेटी दये! ऐसी शून्यहृदय कैसे हो गई, जो अपनी माताको और बहिनको भी नहीं पहिचान सकती है[1]?

दया—(देखकर और उच्छ्वास खींचकर) हाय! यह तो मेरी प्राणवल्लभा माता है। माता! यह तेरी बेटी कराल हिंसाकी विकट दाढ़से बचके आई है, और तुझे तथा बहिनको देख रही है। सो दोनों मुझे एकबार हृदयसे तो लगा लो।

[तीनों परस्पर आलिंगन करती है]

क्षमा—(गोदमें बिठाकर) दये! बतला तो सही कि, उस राक्षसी हिंसाके कराल दांतोंके बीचमें पड़कर तू कैसे बची?

शान्ति—हां बहिन! जल्दी सुनाओ। उसके अन्यायसे मेरा हृदय दुःखी हो रहा है।

क्षमा—यह भी कहो कि, उस सर्व जनोंकी अप्रिया तथा नरककी लीलाने आकर क्या किया?

दया—मुझे मारनेकी इच्छासे वह पापिनी हिंसा कराल नेत्र किये हुए मेरे मनोहर कोमल शरीरपर उछलके पड़ी। और जैसे जंगलमें हरिणीको व्याघ्री पकड़ती है, उसी प्रकारसे मुझे अपने तीखे करोंतके समान दांतोंमें दृढ़तासे दबाकर ले चली।

क्षमा—हाय! हाय! धिक्कार है उसे!! (मूर्छित होकर पड़ती है)

शान्ति—(मुंहपर हाथ फेरती हुई) माता! सचेत होओ! सचेत

1 जब दयाने दोनोंको नहीं पहिचाना, तब क्षमाने इस प्रकार कहा।

होओ!! यह क्या करती हो? दयाकी कुछ प्राणहानि नहीं हुई है।

क्षमा—(सचेत होकर) तत्पश्चात् क्या हुआ?

दया—तब भगवान अरहंतदेवने अपनी सर्वज्ञताके बलसे मेरे कष्टको जान लिया। इसलिये तत्काल ही अपने समान श-क्तिकी धारण करनेवाली वाग्देवीको भेजा कि, पापिनी हिंसा व्याघ्री दयाका घात करना चाहती है, इसलिये उसे जाकर बचाओ। वह भी बड़ी भारी परोपकारिणी थी। सो भगवानके वचन सुनकर उसी समय आकाशगामिनी विद्यापर आरोहण करके आई। आ-काशमें ठहरकर उसने हिंसापर भयानक दृष्टिपात करके उपदेश रूपी प्रबल बाणको संधाना और पर्वतके शिखरोंको कंपित करने वाली गर्जना की। जिसके सुनते ही वह व्याघ्री मुझे वहाँ छोड़कर भाग गई।

क्षमा—(हाथसे उसके शरीरका स्नेहपूर्वक स्पर्श करके) बेटी, सचमुच ही तू पुण्यके उदयसे जीवित बची है।

दया—पश्चात् हे माता! तेरे इस सुखकारी स्पर्शके समान उस भगवतीके हस्तरूपी अमृतसे मेरे शरीरपर जो दांतोंके घावोंकी बाधा हो रही थी, वह तत्काल ही अच्छी हो गई।

क्षमा—वे जिनेन्द्रदेव धन्य है, जिन्होंने मेरी पुत्रीको बड़े भारी संकटसे बचा ली।

दया—माता! उन्होंने मुझ अकेलीको ही क्या बचाई है सारे संसारको कष्टसे बचाया है। सुनो, जिस समय कर्मभूमि प्रगट हुई, उस समय भगवान् ऋषभदेवने करुणाभावसे असि

मसि आदि वाणिज्य और कृषिकर्मादिकी विधि बतलाकर समस्त पृथ्वीकी पालना की थी। और कल्पवृक्षोंके अभावमें प्रजाको स्वयं कल्पवृक्ष बन करके संतुष्ट किया था। अतएव उन वृषके (धर्मके) बढ़ानेवाले वृषभदेवको शतशः नमस्कार है।

क्षमा—पश्चात् क्या हुआ?

दया—तब वाग्देवीने क्रोधित होकर कहा कि, "जो मेरा अनादर करके अरहंत भगवानके भक्तोंके हृदयमेंसे दयाका हरण कराता है, उस मोहके अविनयको मै कदापि सहन नहीं कर सकती हूं। दये! तू प्रवोध महाराजके पास जाकर उन्हें यह सब वृत्तान्त सुना।" सो माता! इसी लिये मै प्रवोध महाराजके समीप जा रही हूं। इस समय तू परीक्षाके साथ भगवतीके निकट जा। और प्यारी शान्ति! आओ तुम मेरे साथ चलो। तुम्हारे साथ रहनेसे ...र कोई उपद्रव नहीं हो सकता है।

[सब जाती हैं—पटाक्षेप]

द्वितीयगर्भाङ्कः।

स्थान—राजा प्रवोधका शिविर।

[प्रवोध राजाके समीप विवेक न्याय आदि यथास्थान बैठे हुए हैं। दया और शान्ति खड़ी है]

प्रवोध—(दयासे) दये! तुम्हें जो कष्ट भोगना पड़ा है, वह मैं सुन चुका। अब तुम कुछ भी खेद न करो। मैं आज ही कलमें अपने वैरी मोहको परलोककी यात्रा कराऊंगा—अवश्य ही कराऊंगा। यदि उसे न मारूं, तो भगवती सरस्वतीके चरणकमल

मेरे साथ द्रोह करें। (योद्धाओंकी ओर तीक्ष्ण दृष्टिसे देखकर) वीरगणो! क्या देखते हो? तयार हो जाओ। मैं युद्धके लिये सन्नद्ध हूं।

विवेक—(हाथ जोड़कर) महाराज! शीघ्रता न कीजिये। पहले एक राजदूत शत्रुके पास भेजना चाहिये। यदि उसका वचन वह न माने, तो लड़ाई शुरू कर देनी चाहिये। और यदि मान जावे, तो फिर युद्ध करनेसे लाभ ही क्या है?

प्रबोध—(क्रोधित होकर) जो मारने योग्य है, उसके पास दूत भेजना निरर्थक है।

विवेक—महाराज! युद्ध राजनीतिपूर्वक ही संपादन करना चाहिये। अन्यथा आपके सिरपर भाईके मारनेका अपयश आवेगा। देखिये, श्रीरामचन्द्र रावणको मारना चाहते थे, तौभी उन्होंने पहले राजदूत भेजा था, और पीछे युद्ध किया था। अतएव जो नीतिके विचारमें चतुर है, उन्हें सज्जनोंकी शोभाके योग्य कार्य करनेका ही प्रारंभ करना चाहिये।

प्रबोध—अच्छा, तो तुमने किस दूतके भेजनेका विचार किया है?

विवेक—मेरी समझमें तो सम्पूर्ण मनुष्योंकी स्थितिके धारण करनेवाले जगत्प्रसिद्ध न्यायको ही दूत बनाकर भेजना चाहिये।

प्रबोध—(दासीसे) सत्यवति! न्यायको बुलाकर लाओ।

सत्यवती—जो आज्ञा।

[सत्यवतीका जाना और न्यायके साथ लौटके आना]

न्याय—महाराज! इस किंकरका स्मरण किस लिये हुआ?

---

१ अर्थात् मुझे सरस्वती देवीकी शपथ (कसम) है।

प्रबोध—न्याय! हम तुम्हें दूतकार्यमें अत्यन्त चतुर समझते हैं, इसलिये तुम मोहसे जाकर कहो कि, तू महात्माओंके हृदयका निवास छोड़कर, और वाराणसीपुरी तजकर म्लेच्छ देशोंमें यथेच्छ निवास कर। और अपने हृदयसे "मै राजा हूं" इस प्रकारका आग्रह निकाल दे। अन्यथा शीघ्र ही युद्धके लिये अपने सैन्यसहित सुसज्जित हो जा। वहांसे महाराज प्रबोधको शीघ्र ही आये हुए समझ।

न्याय—स्वामिन्! तिनकेके समान वेचारे मोहपर इतनी कोपाग्निकी क्या आवश्यकता है? जो मेरे ही कोपको सहन करनेका पात्र नहीं है, वह आपके क्रोधको कैसे सह सकता है? भला, जिस सर्पको नकुल (न्योला) ही हतन कर डालता है, वह क्या गरुड़के लिये दुर्जय हो सकता है? मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अकेला ही सबको पराजित कर आऊं?

प्रबोध—अच्छा! तुममें ऐसा कितना वल है?

न्याय—महाराज! मेरे वलकी आप क्या पूछते हैं? तीनों लोककी प्रजा मेरे जीवनसे ही जीती है। मेरे अदृश्य होनेपर सबका समूल क्षय हो जावेगा। अतएव यह सब प्रजा मेरे आधीन विचरण करती है। तब आप ही कहिये, मेरे इस वलके सम्मुख मोह किस खेतकी मूली है? तथापि मै स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेके लिये जाता हूं। [जाता है। पटाक्षेप]

तृतीयगर्भाङ्कः।

स्थान—राजा मोहका दरवार।

अधर्मद्वारपाल—महाराज! द्वारपर प्रबोधका कोई दूत आकर खड़ा है।

मोह—उसे दरबारमें आने दो ।

अधर्म—जो आज्ञा ।

[न्यायका प्रवेश]

न्याय—प्रबोध राजाने नमस्कार करके आपकी कुशलता पूछी है ।

मोह—हे न्याय! "कुशलता पूछी है" तुम्हारा यह वाक्य तो मुझे आनन्दित करता है । परन्तु साथ ही "प्रबोध राजाने पूछी है" यह वाणी मुझे व्यथित करती है । क्योंकि प्रबोध मेरे जीते जी इस लोकमें राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता है । अतएव ऐसा व्यर्थ वचन मत कहो कि, "प्रबोध राजाने कुशलता पूछी है ।"

न्याय—महाराज! आपने यह ठीक कहा कि, "मेरे जीते जी प्रबोध राजा नहीं हो सकता ।" इसे मै भी स्वीकार करता हूं कि, "आपके जीते रहनेपर नहीं, किन्तु उनकी तलवारसे आपके देवगति प्राप्त होनेपर प्रबोध राजा हो सकेंगे ।" मेरे ये सब वचन आप अच्छीतरहसे हृदयमें धारण कर लें, और उन्हें सत्य समझ लें ।

राग-द्वेष—(लाल लाल नेत्र करके) रे मूर्ख! ऐसे असंभव और असभ्य वचन क्यों बोलता है? क्या तुझे मरनेकी इच्छा है?

[सप्त व्यसन सुभटोंका मारनेके लिये उठना ।]

मोह—अरे भाई! क्यों बेचारेपर क्रोध करते हो? इसे मत मारो । यह दीन पराया दूत बनकर आया है । क्या तुम नहीं जानते हो कि, "यद्यपि मतवाला श्याल सिंहके सम्मुख आकर जोर जोरसे चिल्लाता है । परन्तु उससे सिंह बिलकुल कुपित नहीं

होता है। जो अपनी बराबरीका नहीं है, उसपर क्रोध करनेसे क्या?[1]" अस्तु, कह रे न्याय! तेरे प्रभुने क्या कहकर भेजा है?

न्याय—सुनिये, हमारे महाराजकी आज्ञा है कि "आप महज्जनोंके चित्तोंको, पुण्यरूप पवित्र देशोंको, और तीर्थभूमियोंको छोड़कर चले जावें। यदि नहीं जावेंगे, तो हमारी तीक्ष्ण तलवारकी धारारूप प्रज्वलित अग्निमें तुम्हें पतंगके समान भस्म होना पड़ेगा।"

मोह—(क्रोधसे चारों ओर देखता हुआ) इस निःसारकी मूर्खताको सुनो! किसीने कहा भी तो है कि, "निस्सार पदार्थोंमें प्रायः बहुत आडंबर दिखाई देता है। सारभूत सुवर्णमें उतनी आवाज नहीं होती, जितनी सारहीन कांसेमें रहती है।[2]" रे न्याय! मैं प्रबोधरूप चन्द्रमाके तेजको ढँकनेवाला और अपनी किरणोंसे पृथ्वीको व्याप्त करनेवाला सच्चा पतंग अर्थात् सूर्य हूं, अग्निमें जलनेवाला तुच्छ पतंग नहीं।

अहंकार—महाराज! सूर्य तो आपके भौंहके विकार मात्रसे आकाशमें भ्रमण करता है। फिर आप यह क्या कहते हैं कि, मैं सच्चा पतंग हूं? आप तो पतंग अर्थात् सूर्यसे बहुत बड़े हैं। और ऐसा भी आप क्यों कहते हैं कि, "प्रबोधचन्द्रके तेजको ढँकनेवाला पतंग हूं" यह चन्द्रमा तो आपके शृंगाररूप समुद्रकी

१–यद्यपि मृगपतिपुरतो रटति सरोषं प्रमत्तगोमायुः।
तदपि न कुप्यति सिंहस्त्वसदृशपुरुषे कुतः कोपः॥

२–निःसारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान्।
नहि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग्यादृक्कांस्ये प्रजायते॥

एक बूंद मात्र है । और उसी बूंदके कणस्वरूप ये तारागण आकाशरूपी आंगनमें विखरे हुए प्रकाशित हो रहे हैं । अतएव आप चन्द्रमासे कोटि गुणें बड़े हैं । फिर चन्द्रमाके तेजको दूर करनेमें आपके सामर्थ्यकी क्या प्रशंसा हुई? और स्वामी! इस दूतका भी कुछ दोष नहीं है । क्योंकि मनुष्य विपत्ति कालके समीप आनेपर इसी प्रकार यद्वा तद्वा बोल बैठता है । जब सीतापर विपत्ति आनेवाली थी, तब उसने यद्यपि कभी सोनेका मृग नहीं देखा सुना था, तथापि रामचन्द्रसे उसके लानेकी प्रार्थना की थी ।[1]

क्रोध—(मोहकी प्रेरणासे अत्यन्त कुपित होकर) अरे! इस पापीको मारो, विलम्ब क्यों कर रहे हो?

न्याय—अरे उद्धतो! उद्धतताके वचन बोलनेसे क्या लाभ है? स्वस्थ होकर क्यों नहीं बैठ रहते? क्या मोहके समीप सब ही ऐसे उद्धत है, विचारशील कोई भी नहीं है? सुनो, जिस प्रबोध राजाके पक्षमें अर्हन्मुखकमलनिवासिनी श्रीमती वाग्देवी हुई हैं, उसकी विजय अनायास ही होगी, इसमें सन्देह नहीं है ।

सम्पूर्णसभासद—(हँसते हुए) ये एक स्त्रीके भरोसे युद्धमें जय लाभ करेंगे! क्या खूब! वचनहीसे तो इनके विजयकी गति जान पड़ती है ।

---

१ प्रत्यासन्नापदो जीवा यद्वा तद्वा वदन्ति च ।
सीताश्रुतं मृगं हेम रामः प्रार्थयते न किम् ॥

सुवर्णमृगके मांगनेका दृष्टान्त अन्यमतकी अपेक्षासे है । इसी आशयका एक श्लोक हितोपदेशमें भी है,—

असंभवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति ॥

मोह—अस्तु नाम। अधिक कहने से क्या? न्याय! तुम अपने स्वामीसे जाकर कहो कि, "हम श्रीमत्पार्श्वनाथ जिनेन्द्रकी पवित्र जन्मनगरी वाराणसीको जो कि हमें अपने कर्मके उदयसे प्राप्त हुई है, किसी प्रकारसे नहीं देवेंगे। आपके पक्षमें भले ही अरहंतादिक आ जावें। हम युद्ध करनेके लिये नहीं डरते है। समरभूमिमें तलवारोंके कठिन प्रहारोंसे हम अपने उज्वल राज्यको न्यायपूर्वक अवश्य ही लेवेंगे।"

न्याय—बस, समझ लिया, आपका यह कथन आपकी मृत्युको समीप बुला रहा है।

[जाता है। पटाक्षेप]

चतुर्थगर्भाङ्कः।

स्थान—राजा प्रबोधकी सभा।

[न्यायका प्रवेश]

प्रबोध—प्रिय न्याय! कहो, मोहसे तुम्हारा क्या २ संभाषण हुआ?

न्याय—महाराज! संभाषण सुननेसे लाभ नहीं है, संग्रामका आरंभ कीजिये। जबतक आप राज्यचिन्ह प्रगट न करेंगे, तबतक राजा नहीं होंगे।

प्रबोध—वे राज्यचिन्ह कौन २ हैं?

न्याय—शिष्टोंकी रक्षा, दुष्टोंका निग्रह और आश्रितजनोंका भरणपोषण ये ही राज्यचिन्ह है।

१– सद्रक्षणमसदनुशासनमाश्रितभरणं च राजचिह्नानि।

प्रबोध—अभिषेक, पट्टबंध, और चामरादिक क्या राज्यचिन्ह नहीं है?

न्याय—नहीं; अभिषेक पट्टबंध और वातव्यजन ये चिन्ह तो व्रण अर्थात् फौड़ेके भी होते हैं ।

प्रबोध—(हँसकर) अस्तु, यह विनोदका समय नहीं है । संग्रामभेरी बजने दो और घोर युद्धके लिये तयार हो जाओ ।

सम्पूर्ण सामन्त—जो आज्ञा ।

[युद्धकी तयारी]

समस्त सुरासुरोंके मनोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाली संग्रामभेरीका नाद सुनकर सम्यक्त्व, विवेक, संयम, संतोष, संयम, संवेग, शील, शम, दम, दान आदि सुभट अपने २ परिवारसहित तयार हो गये और क्षमा, परीक्षा, श्रद्धा, दया, शान्ति, मैत्री, भक्ति आदि विद्याधरीभी अपने २ विमानोंपर आरोहण करके चल पड़ीं । इनके सिवाय श्रीमती तर्कविद्या स्याद्वादसिंहपर सवार होकर सप्ततत्त्व, षट्द्रव्य, और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणसहित जय पराजयका कुतूहल देखनेकी अभिलाषासे प्रगट हुई । इत्यादि प्रबल सैन्यके साथ, राजा प्रबोधने निपुण ज्योतिषियोंके बतलाये हुए उत्तम मुहूर्तमें स्त्रियोंके "जय हो, प्रसन्न होओ, वृद्धिको प्राप्त होओ" आदि मंगल शब्द

१-अभिषेकः पट्टबन्धो वातव्यजनं व्रणस्यापि ॥

२ फौड़ेका अभिषेक (जल ढारना), पट्टबंध (पट्टी बाधना), और वातव्यजन (पखेसे हवा करना) ये तीनों चिन्ह होते हैं । कैसा अच्छा श्लेष है ।

सुनते हुए बनारसी नगरीकी ओर कूच किया। और कितने ही दिनतक गजराजकी लीलागतिसे गमन किया।

"उस राजाकी गमन करती हुई सेनाकी वाद्से भ्रमण करते हुए पृथ्वीमंडलके तथा दिग्वलय (दिशाओं)के जंगम जीव ही केवल कंपित नहीं हुए, किन्तु अपने आश्रममें आकर छुपे हुए शत्रुओंकी रक्षा करनेके कलंककी शंकासे मानो सदा स्थिर रहनेवाले पर्वत भी कम्पायमान हो गये। क्योंकि शत्रुओंको शरण देनेवाला भी शत्रु समझा जाता है।"[1]

"वह राजा अपने शत्रुपर महाकोपकी ज्वालासे जलता हुआ और अपनी सेनाके द्वारा अचलोंके सहित अचलाको भी चलाता हुआ अर्थात् पर्वतोंसहित पृथ्वीको भी कंपित करता हुआ चला।"[2]

"घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलसे सूर्यमंडल शीघ्र ही ढँक गया! जिससे सौर अर्थात् सूर्य तारागणोंका तेज आच्छादित हो जाता है, उससे शौर अर्थात् योद्धाओंका तेज-बल लुप्त हो जाना क्या बड़ी बात है[3]?"

---

१ न केवलं दिग्वलये चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलयेऽस्य जङ्गमैः।
श्रिताहितत्राणकलङ्कशङ्किभिरिव स्थिरैरप्युदकम्पि भूधरैः॥
(धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये)

२ चचाल चालयन्सैन्यैरचलां साचलां नृपः।
तस्योपरि महाकोपज्वालाभिर्ज्वलिताशयः॥

३ खुरोत्थैर्वाजिनां सूरं रजोभिः पिदधौ जवात्।
आच्छाद्यते येन सौरं तेजः किं तत्र शूरजम्॥

"वह सेना विशाल देहवाले हाथियोंके घंटानादसे और रथोंके चलनेके शब्दसे संसारको अद्वैतमयी करती हुई[1] शीघ्रतासे चलने लगी[2]।"

कुछ दिनके पश्चात् दूरसे वाराणसी नगरी दिखाई दी। "उस नगरीमें जो विशाल तथा ऊंचे जिनमन्दिर थे, वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो सूर्य चन्द्र तारागणादि रूप गेंदोंको—जिन्हें कि पृथ्वी अपने उदयाचलरूपी पहले हाथसे फेंकती है, और अस्ताचलरूपी दूसरे हाथसे झेल लेती है,—बीचमें ही पानेके लिये उस नगरीने अपने हाथ ऊपर किये हैं[3]।"

वाराणसीकी सीमामें राजाने अपनी सेनाके साथ एक जिनभगवानका प्रासाद देखा, "जिसकी शिखरमें तारागण गुथे हुए जान पड़ते थे और चन्द्रमा प्रत्येक रात्रिको चूड़ामणि सरीखा दिखलाई देता थों[4]।" तब वह रथसे

---

१ अद्वैतमयीका भाव यह है कि, पृथ्वीमें उस समय सेनाके शब्दोंके सिवाय और कुछ भी (द्वैत) नहीं सुनाई पड़ता था।

२ गजानां पृथुदेहानां घण्टाभिश्चक्रिणां रवैः।
शब्दाद्वैतमयं कुर्वन्प्रतस्थे विश्वमञ्जसा॥

३ प्रक्षिप्य पूर्वेण मही महीभृत्करेण यान् स्वीकुरुतेऽपरेण।
अन्तर्ययाप्तुं ग्रहकन्दुकांस्तान् हस्तो जिनागारमिषादुदस्ताः
(धर्मशर्मा० सर्ग ४ श्लो० २०)

४ तं जिनागारमद्राक्षीच्छृङ्गप्रोतोडुसञ्चयम्।
चूड़ामणित्वमायाति यत्र चन्द्रः प्रतिक्षपम्॥

उतर पड़ा और मन्दिरमें जाकर "जय! जय! पुनीहि! पुनीहि!" कहता हुआ इस प्रकार स्तुति करने लगा—

"हे निरुपम पुण्यस्वरूप! सुमेरु पर्वतकी शिखरके अग्रभागमें सिंहासनपर विराजमान करके जिस समय आपका अभिषेक किया गया था, उस समय आपके चरणोदकसे पृथ्वी प्लावित हो गई थी। आपको नमस्कार है। जिस समय समस्त भूमंडलके लोगोंने आपके चरणोंकी स्तुति की थी, उस समय कोलाहलसे दशों दिशाएं गूंज उठी थीं, और इन्द्रका आसन काँप उठा था। आपको नमस्कार है। आपके गर्भ कल्याणके समय देवोंने इतनी रत्नोंकी वर्षा की थी कि, लोग अपनी दरिद्रताके भारको सदाके लिये दूर करके अतिशय आनन्दित हो गये थे। हे भगवन्! आपको नमस्कार है। कठिनाईसे भरनेवाले पेटके कारण जो अकार्य होते हैं, और उनसे जो पाप होते हैं, वे ही जिसमें भौंरें पड़ती हैं, ऐसे संसारके दुःखमय समुद्रमें पड़ते हुए जीवोंके लिये आप आलम्बनस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है। कमठकी क्रोधरूपी वायुसे ताड़ित हुए घनघोर बादलोंकी प्रचंड वर्षासे बड़े २ पर्वत टूटके पड़ते थे, जिससे भीत होकर सिंह चीत्कार करते थे, तथा उनकी भीषण गर्जनसे पतन होते हुए नागेन्द्रके भवनसे उसकी कराल फूत्कार निकलती थी और उससे निकलते हुए हालाहल विषसे कमठ दैत्यके मुकुटमें लगे हुए मणिरूपी दीपक उड़कर आपके चरणोंको प्रकाशित करते थे। आ-

पको नमस्कार है। और हे मोहके उदयको नष्ट करने-वाले जिनेन्द्र! आपको प्रणाम है।"[1]

स्तुति करनेके पश्चात् राजाने मंदिरसे निकलकर सारथीके साथ गंगानदीका दर्शन किया। वह महानन्दस्वरूपा गंगानदी—"किनारेके वृक्षोंसे गिरे हुए और पवनके झकोरोंसे इधर उधर वहते हुए फूलोंसे पृथ्वीरूपी कामिनीकी लहराती हुई पंचरंगी साड़ीके समान शोभित होती थी।"[2] "उसमें क्रीड़ा करती हुई स्त्रियोंके सघन तथा ऊंचे कुचोंसे, पवनप्रेरित तरंगोंके आघातवश जो केशरकी पीली ललाई धुलती थी, वह मदोन्मत्त हाथीके झरते हुए मदके समान जान पड़ती थी(?)।"[3] "कच्छ और वड़े २ मच्छोंकी पूंछोंकी टक्करोंसे सीपोंके संपुट खुलकर किनारोंपर पड़े हुए थे, जिनमेंसे उज्ज्वल मोती विखर रहे थे। और सांपोंके फण जलके कनूकोंसे शोभायमान हो रहे थे"[4]

---

१ इस स्तुतिके सस्कृत गद्यमें वहुत लम्बे २ समास हैं, इसलिये हिन्दीमें उनके प्रत्येक पदका अर्थ लाना अतिशय कठिन है। तौ भी हमसे जहांतक वना है, प्रयत्न किया है। कई स्थान भ्रमात्मक थे, इसलिये उनका प्रकरणके अनुकूल भाव लिख दिया है।

२ तडतरुपयडियकुसुमपुंजजलपवनवसा चलंतिया।
दीसइ पंचयवण्णं साड़ी महिमहिलपेघलंतिया॥

३ जलकीलंतितरुणिघणथणजुयवियलियघुसिणपिंजरा।
पवनाहयविसालकल्लोलगलत्थियमत्तकुंजरा(?)॥

४ कच्छवमच्छपुच्छसंघट्टविहट्टियसिप्पिसंपुडा।
कूले पडंतमुत्ताहलजललवसित्तफणिफणा॥

प्रबोध—बस, यही स्थान हम लोगोंके निवासके योग्य है। अतएव सेनाका पड़ाव यहीं डालना चाहिये।

सेनापति—मेरी भी यही इच्छा है। सैन्यका शिविर यहीं डालना अच्छा है।

पञ्चमगर्भाङ्कः।

स्थान—प्रबोध और मोहके शिविरसे थोड़ी दूर एक मैदान।

[मैत्री सुसज्जित सैन्यकी ओर देख देखकर विचार करती है।]

मैत्री—यह मार्ग स्पष्ट है। इसे सब लोग जानते है कि, वैर, वैश्वानर (अग्नि), व्याधि, वल्भ (भोजन), व्यसन और विवाद ये छह वकार महा अनर्थके करनेवाले होते हैं। पुरुषोंको बढ़नेवाला थोड़ासा भी वैर छोटा नहीं गिनना चाहिये। क्योंकि आगकी छोटीसी भी चिनगारी बढ़कर सारे वनको भस्म कर डालती है। (आंखोंमें आँसू भरकर) हे प्राणियो! यह कुटुम्बशोकरूपी शल्य दुर्निवार है। विवेकके लाखों वचनोंसे भी इसका उच्छेद नहीं होता है। कहा भी है कि; "जब सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र जैसे बड़ों बड़ोंका नाश होता है, तब काल आनेपर बेचारा दुर्बल मनुष्य क्या वस्तु है, जो न मरै? यह सब जानते हैं, तौ भी आश्चर्य है कि, समान प्रीति और धनकी चिन्ताको विस्तारनेवाले अपने सुहृदजनोंकी—बन्धुवर्गोंकी मृत्यु सुनकर शोक हृदयको वारंवार पीड़ित करता है[1]।" परन्तु इससे क्या? जो

---

1 यदि ध्वंसोत्यन्तं तपनशशिभूसिन्धुमहताम्।
तदा काले को वा न पतति पुनः शीर्णतनुमान्॥
तथाप्युच्चैः शोको व्यथयति हृदं कोऽपि सुहृदा-
महो वारंवारं समरतिधनार्तिप्रसरताम्॥

होनहार होगी, वह निश्चयपूर्वक होगी। उसका उल्लंघन कौन कर सकता है? अस्तु अब मैं यहां अपने भाईबन्धुओंका मरण देखनेके लिये नहीं ठहरूंगी। मुझसे इनका मरण नही देखा जावेगा।

[जाती है। परदा पड़ता है

षष्ठगर्भाङ्कः।

स्थान—श्रीसम्मेदशिखरका एक जिनालय।

[एक हाथमें वीणा और एक हाथमें पुस्तक लिये हुए वाग्देवी विराजमान है। मैत्री उदासीन मुद्रा धारण किये हुए प्रवेश करती है।]

वाग्देवी—सखी मैत्री! आओ! कहो, कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ? इस समय तुम्हारी मुद्रा खेदखिन्न जान पड़ती है।

मैत्री—नहीं! मै तो खेदखिन्न नहीं हू। आपकी कृपासे सर्वत्र सब लोग कुशल है। हां! आप अवश्य ही कुछ विमनस्क जान पड़ती है, जिससे मेरा हृदय आश्चर्ययुक्त हो रहा है।

वाग्देवी—सखि! न जाने सुर असुरोंको भयके उत्पन्न करनेवाले इस महायुद्धमें प्यारे बेटे प्रबोधकी उस शक्तिशाली मोहरूप भैसेके साथ क्या दशा हुई? इसी विचारसे मेरा मन खेदखिन्न हो रहा है।

मैत्री—माता! इसके लिये आप क्यों चिन्ता करती है? मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि, जिसका आपने पक्ष ग्रहण किया है, उसका निश्चयपूर्वक कल्याण होगा।

वाग्देवी—यद्यपि पुन्यवान पुरुषोंका युद्धमें क्षय नहीं होता है। तौ भी जिसका हृदयमें पक्ष होता है, उसकी चिंता चित्तको विकल कर डालती है। विशेष करके इस समयतक कोई समाचारवाहक नहीं आया है, इससे और भी चिन्ता बढ़ती जाती है।

[न्यायका प्रवेश]

न्याय—भगवती! नमस्कार।

वाग्देवी—भाई! प्रसन्न रहो। अच्छा कहो, वहांका क्या समाचार है?

न्याय—भला, आपके प्रतिकूल रहनेवालोंकी कभी जय हो सकती है?

वाग्देवी—अस्तु, जो कुछ हो, विस्तारपूर्वक निवेदन करो।

न्याय—हे पुन्यवती देवी! अत्यन्त प्रवल सेनाके सुभटोंके उत्कट कोलाहलसे जहां गंगानदीमें नक्रचक्रादि जलजंतु उछलते हैं, और उनके चीत्कार शब्दोंसे दशों दिशा वहरी हो जाती है तथा हाथी घोड़े रथ पयादोंके चरण संचालनसे उठी हुई धूलिके समूहमें जहां गंगानदीके पुलकी भ्रान्ति होती है, मोहने ऐसी रणभूमिमें पहले अपना अहंकार नामक योद्धा भेजा। सो वह विकट तांडव करती हुई भौहोंका धनुष धारण करके प्रवोध महाराजके भेजे हुए विनयसे बोला, कि, "मनुष्यके चित्तमें मैं जिस समय प्रवेश करता हूं, उस समय गुरुजनोंके प्रति नम्रताके–चतुरताके वचन कहना–उठना–नमस्कार करना–और अपना आसन बैठनेके लिये देना, ये तेरे उत्पन्न किये हुए भाव छूमंतर हो जाते है।" उसकी ऐसी गर्जना सुनकर विनयने कहा, "रे पापी! तू जिसके चित्तमें प्रवेश करता है, उसका मैंने कभी कल्याण होते हुए नही देखा। पुराणमें प्रसिद्ध है कि, तेरी संगतिसे ही कौरव नाशको प्राप्त हुए थे।" ऐसा कहकर उसने तत्काल ही अपने तीक्ष्ण विनयभावरूपी वाणसे अहंकारको पृथ्वीपर सुला दिया।

वाग्देवी—अच्छा हुआ, वहुत अच्छा हुआ। अस्तु फिर?

न्याय—अहंकारका पतन होते हुए मदमात्सर्यादिका भी पराजय हो गया। यह सुनकर हठी मोहने अपने सैन्यके अतिशय बलवान योद्धा कामको आज्ञा दी, सो वह अपनी प्राणप्यारी रतिकी प्रीतिमें उलझा हुआ एक बड़ी भारी सेनाको लेकर युद्धक्षेत्रमें जा पहुंचा—

मत्तगयन्द।

चंदन चंद्रकी चन्द्रिका चारु,
अनिन्दित सुन्दर मंदिर भायो।
कोमल कामिनी कानन कुंज,
कदंब-समीर सुगंधित आयो॥
माधवी मालतीमाल मनोज्ञ,
मलिन्द[1]को वृन्द वसंत सुहायो।
यों चतुरंग चमू[2] सजि संग,
अनंग[3] रणांगनमें चढ़ि धायो॥

उसे अपने वाणोंसे सुर असुरोंके सहित सम्पूर्ण संसारको कंपायमान करता हुआ देखकर प्रबोध राजाका शील नामका सुभट कायर होकर भागने लगा। वह मारे भयके विह्वल होकर ज्यों ही पीठ दिखाना चाहता था, त्यों ही विवेकने आकर कहा, शूरवीर शील! तुम्हें यह कायरताका कार्य शोभा नहीं देता है। मेरे समीप रहनेपर निश्चय समझो कि, तुम्हारा भंग नहीं होगा। इस लिये धैर्य धारण करके एक वार विचार वाणको खूब संधान करके चलाओ, और कामको यमराजके घर भेज दो। शीलने विवेकके

१ भ्रमर। २ सेना। ३ कामदेव।

इस प्रकार धैर्य दिलानेपर कामके सम्मुख होकर कहा, अरे चांडाल काम! तू बड़ा पापी है, जो अशुचिरूप नारीको निर्मल मानता है।

मत्तगयन्द ।

*थूक कफादिको मन्दिर जो मुख,
चन्दसौं ताहि दुचन्द बनावैं ।
मांसके पिंड उरोज तिन्हैं,
कलशा कहि कंचनके सुख पावैं ॥
मूत्रमलावृत जंघनको,
उपमा गजसुंडकी दै न घिनावैं ।
यौं अति निन्दित नारिस्वरूप,
कवीश बढ़ाय विचित्र बतावैं ॥

और भी—

कवित्त (३१ मात्रा)

।कचकलाप यूकानिवास मुख, चाम-लपेट्यो हाड़समूह ।
मांसपिंड कुच विष्टादिककी, पेटी पेट भरी बदबूह ॥

---

* स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धिजघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ॥ (भर्तृहरिः)

। कचा यूकावासा मुखमजिनबद्धास्थिनिचयः
कुचौ मांसोच्छ्रायौ जठरमपि विष्ठादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यन्त्रं जघनमबलायाः क्रमयुगं
तदाधारस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥
(पद्मनन्दि प० वि०)

१ दुगुना अच्छा । २ स्तन । ३ बालोंकासमूह । ४ जू लीखके रहनेका ठिकाना ।

जघन[1] जंत्र मलमूत्र झरनको, चरनथंभ तिहिंके आधार।
घृणित अपावन कामिनि-तन यों, ज्ञानी लखहिं न यामें सार॥

जो लोग मूर्ख होते है, वे ही ऐसी नारीको देखकर उन्मत्त होते है, तथा स्नेह करते है। विष्टामें कौओंकी ही उत्कट अभिलाषा होती है, हस पक्षियोंकी नहीं। इस प्रकारके विचारबाणसे शील सामन्तने कामदेवको धराशायी कर दिया।

वाग्देवी—पश्चात् क्या हुआ?

न्याय—भगवती! शीलसुभटके द्वारा कामके मारे जानेपर आकाशसे देवांगनाओंने जयजयकार करते हुए फूलोंकी वर्षा की।

वाग्देवी—अच्छा हुआ! वहुत अच्छा हुआ! यह एक वड़ा भारी सुभट जीता गया।

न्याय—कामकी मृत्यु सुनकर मोहका मुख मलीन हो गया। क्षणैक स्थिर रहनेके पश्चात् उसने अपने क्रोधनामक प्रसिद्ध योद्धाको रणभूमिमें भेजा। सो वह भी अपनी इच्छानुसार कृत्य करनेवाली हिंसा भार्याको लेकर दयाधर्मको दूर करता हुआ भयानक रूपमें आ खड़ा हुआ। उसको देखकर प्रवोध महाराज तकको चिन्ता हो गई। इतनेहीमें आपकी भेजी हुई क्षमाको देखकर प्रवोधने कहा, "प्यारी क्षमा! हमने क्रोधके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हें ही चुना है। इसलिये उसको जीतनेके लिये तुम शीघ्र ही जाओ।" यह सुनकर क्षमाने कहा, "स्वामिन् मै स्वयं तो कुछ शक्ति नहीं रखती हूं, परन्तु आपके अनुग्रहसे आशा करती हूं कि, क्रोधको अवश्य ही पराजित करूंगी। आपके प्रभावसे

1 जघन—योनिभाग।

मै मोहको भी जीत सकती हूं, फिर यह क्रोध तो उसका अनुचर है।" यह कहकर क्षमा क्रोधके सम्मुख निर्भय होकर चली। उसे देखकर क्रोध ललकार कर बोला, अरी क्षमा! तू मेरे साम्हनेसे हट जा। मैंने कितने वार तेरा घात किया है, कुछ स्मरण है? आज प्रबोधकी सहायतासे तू क्या वैक्रियक शरीर धारण करके आई है? एक वार मेरे वैभवको तो सुन;—

भुजगप्रयात।

कितीं वार जीते नहीं मैं नरेश।
कितीं वार प्रेरे न मैंने सुरेश॥
कितीं वार त्यागी तपाये नहीं मैं।
कितीं वार लोप्यो न धर्मं यहीं मैं॥

इस प्रकार कहकर क्रोध क्षमाको मारनेके लिये झपटा। उसके यसे ज्यों ही क्षमा पलायन करना चाहती थी, त्यों ही शान्तिने आकर धैर्य देकर कहा, "माता! यह डरनेका समय नहीं है, तुम किसी भी प्रकारका भय मत करो" और फिर हिंसाके सम्मुख होकर कहा, "हिंसा! आज इन तेजस्वी पुरुषोंके देखते हुए इस समरभूमिमें मेरे साम्हने आ, और अपना धनुषबाण धारण करके उस प्रचंड बलको प्रगट कर, जिसे धारण करके तू मेरी बड़ी बहिन दयाको मारनेके लिये आई थी। क्या तू नहीं जानती है, कि;—

---

१ कति न कति न वारान्भूपतिर्निर्जिता नो मनुष्याः
कति न कति न वारान् सूदिता नैव शक्राः।
कति न कति न वारान् तापसा नैव तप्ताः
कति न कति न वारान् नैष धर्मो विलुप्तः॥

नरेन्द्रछन्द।

तौलौं दुःख शोक भय भारी, रोग महामारी है।
अदया अकृत दरिद्र दीनता, अरु अकाल जारी है॥
तौलौं ही विष शत्रु भूत ग्रह, डांकनि शांकनि डेरा।
जौलौं विमलवुद्धिवारे नर, जपैं नाम नहिं मेरा॥

वस, यह सुनते ही और शान्तिको एक वार देखते ही हिंसा ----- हो गई।

वाग्देवी—अच्छा हुआ! वहुत अच्छा हुआ!

न्याय—यह देख अनर्थका मूल कोप, क्षमा और शांति दोनोंको मारनेके लिये दौड़ा। तव क्षमा वोली, "हे कोप! तू मेरा जन्मका भाई है। यदि तू मुझे मारना चाहता है, तो ले मार डाल। परन्तु यथार्थमें तू हिंसक नहीं है। मेरे किये हुए अशुभ कर्म ही हिंसक है। किसीने कहा है कि;—

छप्पय।

[1]होवै यदि कोइ कुपित, सरलतासों हँस देवै।
अरुन वरन लखि नयन, दृष्टि नीची कर लेवै॥
झपटै लकुटी लेकर तो, यों कहै होय नत।
मार लीजिये सेवक है यह, खेद करो मत॥
अरु मारन ही यदि लगै तो, पूर्वकर्म मम गये खिर।
यों कहै शांतचितसों तहां, कोप उदय किम होय फिर॥

---

१ क्रुद्धे सेरमुखं तथारुणमुखेऽधोभूमिसंलोकनं
जाते दण्डनियोगिनि स्वयमहो हन्यः सदा सेवकः।
अज्ञानादथवा हते मम पुराकर्मक्षयः संगतः
एवं वाक्यविशेषजल्पनपरे कोपस्य कुत्रोद्गमः॥

इसके सिवाय "¹जो अपने अनेक पुण्योंको नष्ट करके मेरे पापबंधोंको काटता है, उसीपर यदि मैं रोप करूं, तो मेरे समान अधम कौन है?" क्षमाने इस प्रकारके वचन वाणोंसे क्रोधको हरा दिया।

वाग्देवी—बहुत अच्छा हुआ। एक बड़ा भारी सुभट मारा गया। अच्छा फिर?

न्याय—क्षमाके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा हुई। और उधर प्रज्वलित चित्त मोहने लोभको बुलाकर कहा कि, हमारी सेनामें तुम ही सबसे श्रेष्ठ शूरवीर हो। इसलिये शत्रुओंको जीतनेके लिये अब तुम ही तयार हो जाओ। यह सुनकर लोभ महाशय अपनी तृष्णा नारीको हृदयसे लगाकर तथा राग और द्वेष इन दोनों पुत्रोंको साथ लेकर और अपने प्रतिपक्षी संतोपको तिनकाके समान भी नहीं समझकर विवेकके सम्मुख हुए और बोले;—"संसारमें जितनी सुलभ वस्तुए हैं, मै उन्हें पहले ही प्राप्त कर चुका हूं, तथा जो दुर्लभ है, वे भी मैने पाली है। अब इनसे भी सुन्दर और जो अपरिमित वस्तुएं हैं, उन्हें यत्न करके पा लेता हूं।" यह सुनकर विवेक बोला;—

मनहर।

दायादार चाहैं औ कुपूत फूँक डारैं जाहि,
मूसवेको चोर नित चारों ओर घूमैं हैं।

---

१ हत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोपं यो निकृन्तति।
तस्मै यदि च रुष्यामि मदन्यः कोऽपरोऽधमः॥

२ दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठात्
दुष्पुत्राः सततं नियन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम्॥

छीनैं छितिपाल छलवलसों छिनेकमाहिं,
पावक जलाय जाय आसमान चूमैं हैं ॥
पानी निज पेटमाहिं धरैं हरैं जक्ष आय,
चाहै कैई हाथ नीचे धरो होय भूमैं हैं।
वार वार ऐसे धनको धिकार दीजे यार,
जापै ठौर ठौर ऐसे वैरीवृन्द झूमैं हैं ॥

तव तृष्णाने आगे आकर कहा, "अजी! लाखोंका धन हो, तो भी मै उसे थोड़ा गिनती हूं और व्याजके वलसे शीघ्र ही करोड़ों कर डालती हूं और जब करोडोंका हो जाता है, तब बाट देखती हूं कि, यह कब अब्जोंका होता है।" यह कहकर तृष्णाने आशाका महावाण चलाया, जिससे विवेक मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। और उस समय उसे मरा हुआ समझकर मोहके कटकमें विजय-दुंदुभी बजने लगा।

वाग्देवी—फिर क्या हुआ? शीघ्र कहो!

मैत्री[1]—हे देवी! उस दुदुभी नादको सुनकर प्रवोध राजा भी दुःखसे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गये। और इस घटनासे चारों ओर घोर कोलाहल मच गया। तव श्रीमती जिनभक्तिने आकर अपने हाथरूपी अमृतके सिंचनसे प्रवोध और विवेक दोनोंको सचेत किया। सावधान होते ही विवेक फिर युद्धके लिये तयार हो गया। यह देख राग और द्वेष दोनो सम्मुख आकर बोले,—"महा-

---

१ इसके पहले युद्धका समाचार न्याय सुना रहा था, परन्तु यहासे मैत्री सुनाने लगी है। ऐसा प्रसग क्यों आया और न्याय कहा चला गया, यह ठीक २ समझमें नही आया।

राज मोहकी सेनामें हम दोनों योद्धाओंके रहते हुए दंभ, अ-सत्य, कलि, क्लेश, और व्यसनादि सुभटोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल हम ही सब कुछ कर सकनेको समर्थ हैं।" यह कहकर उन्होंने विवेकके सिरका छत्र छिन्नभिन्न कर डाला। तब विवेक अपना छत्रशून्य मस्तक देखकर अतिशय कुपित हुआ। उसने उसी समय प्रविचारबाणको कर्णपर्यंत खींचकर कठोर भावसे ज्यों ही चलाया, त्यों ही उन दोनों पापवृक्षके अंकूरोंका मस्तक धड़से अलग हो गया।

वाग्देवी—बहुत अच्छा हुआ। अस्तु फिर?

मैत्री—अपने पुत्रोंके मरनेके दुःखसे व्याकुल होकर लोभ वि-वेकके साम्हने आया और—

आर्या।

[1]चक्रीकी पाई है, उससे महती सुरेशकी लक्ष्मी।
सो भी करके करगत, फिर तो अहामिंद्रकी लूंगा॥

इस प्रकार वाक्य बाण छोड़ने लगा। यह देख संतोष बोला, लक्ष्मी है क्या पदार्थ? देख, कहा है कि;—

[2]अति पुण्यवन्त चक्री नरेश। तिनके हु रही नाहीं हमेश।
तो पुण्यहीन जो इतर जीव। क्यों रहै रमा तिनके सदीव॥

और भी—

---

१ प्राप्ता मया चक्रिपदस्य लक्ष्मीरितोपि श्रूयते महती हि जिष्णोः।
करोति द्राक्तामपि हस्तसंस्थां ततोऽहमिन्द्रप्रभवां च पश्चात्॥

२—जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं इयरजणाणं अपुण्णाणं॥
(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाया।)

राग मलार[1]।

धिक धिक लोभ महा दुखदाय ॥ टेक ॥
सकल अवनितलमाहिं भ्रमत नर, लछमीमें ललचाय।
पारावार अपार भयानक, तिरत न नेकु डराय ॥ १ ॥
वंक भौंहवारे भूपनकी, करत खुशामद जाय।
प्राण-प्रीति तजि पर्वत लंघत, पावत तौहु न हाय! ॥ २[2]
कँहाॅ जाऊॅ पाऊं धन कैसे, रहत सदा यह भाय।
किसकी सेवा कीजे 'प्रेमी', कौन विचक्षण राय ॥ ३[3] ॥

संतोषके चुप होनेपर क्रोध बोला, "तीन लोकमें जो२ वस्तु सारभूत हैं, वे सब मेरी ही है। ऐसा विचार कर मै प्रतिदिन सन्नतापूर्वक उचित प्रयत्न किया करता हूं।" लोभका उक्त व नष्ट करनेके लिये संतोषने इस प्रकारसे वीतराग—वाण चलाये;-

सवैया (३१ मात्रा)

लक्ष्मी-आगमका सुख अब तक,
नष्ट हुआ नहिं कितनी वार।

---

१ इस पदमें नीचेके दो श्लोकोंकी छाया मात्र ली गई है।

२ संभ्रान्तं धनलिप्सया क्षितितलं भूध्राः पुनर्लङ्घिताः।
भ्रूभङ्गाङ्कुरदारुणा नृपजनाः के के न यत्नीकृताः।
हेलोल्लासितभङ्गभीषणतटस्तीर्णश्च रत्नाकरः।
धिग्लोभं जनदुःखदं नहि पुनः प्राप्तस्ततो मा-लवः॥

३ क गच्छामि कुतो लभ्यं धनं कं संश्रये नृपम्।
कस्य सेवा प्रकर्तव्या कोऽस्ति दानी विचक्षणः॥

४ रमारम्भानन्दाः कति कति न तेऽद्यापि गलिताः।
पुनस्तान् विभ्रान्तश्चरसि विफलं किं चपलधीः॥
ततो यत्सौख्याब्धिं गणयसि चिरं तन्न भविता।
ततो भूयोभूयः किमिति कुरुषे क्लेशमतुलम्॥

भ्रमवश पुनि पुनि कर प्रयत्न क्यों,
विफल मनोरथ होता यार ॥
समझ रहा है जिसे चपल मति!
तू सुस्थिर-सुख-पारावार।
बहुत समय सो नहीं रहेगा
करत क्लेश क्यों बारंबार ॥

चौबोला।

आनेमें होती है चिंता, जानेमें भी फिर भारी।
इससे साफ समझमें आता, धन आना ही दुखकारी।
यों विचार कर ज्ञानवानजन, लोभविटप विच्छेद करें।
जिससे जगमें सब अनर्थकर, विषमय फल फिर नहीं फरैं ॥[1]

इन बाणोंके तीक्ष्ण प्रहारोंसे लोभ तत्काल ही धराशायी हो गया। और उसके साथ ही पैशून्य, परिग्रह, दंभ, असत्य, क्लेशादि योद्धा भी पराजित हो गये।

वाग्देवी—अच्छा हुआ! अच्छा हुआ!!

मैत्री—हे भगवती! पश्चात् जब देखा कि, क्षत्रयुद्धसे अब मेरी जीत नहीं हो सकती है, तब मोहने सबको अक्षत्र युद्धमें प्रवृत्त कर दिया। अर्थात् एक एकके साथ एक एक न लड़कर द्यूत, सुरा आदि सातों व्यसन और बौद्ध, श्वेताम्बर, नैयायिक, कपिल, मीमांसक आदि आगम सबके सब एक साथ प्रबोधकी

---

१ धने प्राप्ते चिन्ता गतवति पुनः सैव नियतम्
ततो प्राप्तिर्भद्रं न भवति यया दुःखमसकृत्।
इति ज्ञात्वा छेद्यो विपुलमतिना लोभविटपी
यतः सर्वेऽनर्था जगति न भवन्त्यार्तिकरणाः ॥

सेनापर टूट पड़े। यह देख तर्कविद्या उठी, सो उसने विना किसीकी सहायताके अकेले ही उन सब आगमोको क्षणमात्रमें जीत लिया। तब वे सब आगम हतगर्व होकर चारों दिशाओंमें भाग गये। उनमेंसे सिंहल, पारसीक, शरवर, धन्यासी (?) आदि देश तथा नगरोंमें बुद्ध आगम जा बसा, सौराष्ट्र (सोरठ), मारवाड़, और गुर्जरदेशमें श्वेताम्बर आगम विहार करने लगा. पांचाल (पंजाब) और महाराष्ट्रमें चार्वाक चला गया, और गंगापार, कुंकुण (कोकण) तथा तिलंग देशोंमें जहां कि प्राय. म्लेच्छ लोग रहते हैं, मीमांसक और शैव मछली मांस आदि खानेवाले बनकर आनन्दपूर्वक विचरण करने लगे।

वाग्देवी—यह बहुत ही अच्छा हुआ। अन्तु फिर मोहकी क्या दशा हुई?

मैत्री—हे देवि! यह तो विदित नहीं है। वह कलियुगके साथ वाराणसी छोडकर कहीं अन्यत्र छुप रहा होगा।

वाग्देवी—तब तो समझना चाहिये कि, अभी अनर्थका अंकुर नष्ट नहीं हुआ है। राजनीतिमें कहा है कि, "अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शत्रुके अकुरको भी नहीं बचाना चाहिये। क्योंकि यदि वह बना रहता है, तो सुदैवसे समय पाकर सैकड़ों शाखावाला बलवान वृक्ष हो जाता है।" हां! और यह भी तो कहो कि, इन मोहादिके पालनेवाले पिताकी अर्थात् मनकी क्या गति हुई?

---

१ अरातेरङ्कुरोऽप्यल्पो न रक्ष्यः श्रियमीप्सुना।
स्थितः कदाचित्सद्दैवात् शतशाखो भवेद्द्रुमम्॥

मैत्री—देवी! सो भी अपनी पुत्री और पुत्रवंधुओंके वियोगसे तप्त होकर मृत्युकी वाट देख रहा है।

वाग्देवी—वह मरना चाहता है, इससे क्या? जब कहीं वह दुःखसे मरेगा, तब ही हमारा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फलेगा।

मैत्री—जब इतना आक्रोश कर रहा है, तब निश्चय समझिये कि, यह बहुत जल्दी मृतकसदृश हो जावेगा। और फिर जिसकी गमनागमन शक्ति नष्ट हो गई है, वह तो मराहीसा है।

वाग्देवी—यदि ऐसा है, तो बहुत अच्छा है। मनके मृतप्राय होनेपर आत्मा भी अपने स्वरूपको प्राप्त हो जावेगा। इसलिये अब उसे वैराग्य उत्पन्न करानेका प्रयत्न करना चाहिये। लो, यह पत्र ले जाओ, और अनुप्रेक्षाको जाकर दो। वह दुःखोंको दूर करनेके लिये यथावत् मार्गकी स्थितिका उपाय बतलावेगी।

मैत्री—जो आज्ञा।

[मैत्री जाती है। पटाक्षेप

सप्तमगर्भाङ्कः।

स्थान—अनुप्रेक्षाका महल।

धर्मकरी दासी—(अनुप्रेक्षासे) हे स्वामिनि! द्वारपर सर्व जीवोंके हित करनेवाली मैत्री पत्र लिये हुए स्वयं आकर खड़ी है।

अनुप्रेक्षा—(स्वय द्वारपर आकर हँसती हुई मैत्रीकी ओर देखती है)

मैत्री—(विनयपूर्वक नमस्कार करके पत्र देती है)

अनुप्रेक्षा—(पत्रको आदरपूर्वक खोलकर मस्तकसे लगाती है और फिर पढ़ती है) "वृषप्रद अर्थात् धर्मके देनेवाले और वृषभके चिन्ह-

वाले स्वस्ति श्रीवृषभदेवको नमस्कार करके—यहा श्रीसम्मेदशिखरसे अष्टशतीसंयुक्ता श्रीमती वाग्देवी, मुनियोंके मुखकमलमें निवास करनेवाली—सम्पूर्ण जीवधारियोंके द्वारा वंदनीय, और भूत वर्तमान तथा भविष्यकालके समस्त मुनियोंको मोक्ष प्राप्त करनेवाली, आदि विविधगुणगणसम्पन्न श्रीमती अनुप्रेक्षा देवीको प्रणाम करती है, और कुशल क्षेम निवेदन करके एक विज्ञप्ति करती है कि, प्रत्येक दुःखसंतप्त जीव आपका चिंतवन करते हैं, और शान्तिलाभ करते है। इसलिये आप इस समय अपने स्वजनसमूहके वियोगकी दुःख ज्वालामें निरन्तर जलनेवाले मनके समीप जावें, और उसे इस प्रकारसे प्रतिबोधित करें, जिसमें वह, संसार भोगोंके भ्रममें फिरसे न पड़ जावे। मेरा यह कृत्य आपहीके द्वारा होने योग्य है। (पत्र पढ़कर तत्काल ही वहांसे जाती है। क्योंकि धर्मकार्यमें बुद्धिवान जन विलम्ब नहीं करते हैं।) [पटाक्षेप

अष्टमगर्भाङ्कः।

स्थान—एक ऊजड़ घर।

[मन विलाप कर रहा है, और सकल्प उसके पास बैठा है]

मन—(आखोंसे आसू बहाता हुआ) हाय! पुत्रो! मैंने तुम्हें बड़े कष्टसे पाला था। तुम मुझे आत्मासे भी अधिक प्यारे थे। हाय! तुम दर्शन क्यों नहीं देते? और मेरी रति हिंसा तृष्णादि पुत्रवधुएँ कहां गई? हे राग द्वेष मद दंभ सत्यादि पौत्रो! तुम कहा भाग गये? तुम्हें मैंने बड़ी आशासे पाला था। मुझे बुढापेमें अकेला छोड़कर तुम क्यों चले गये? अरे तुम एकाएक ऐसे नि-

र्दैयी क्यों हो गये? अथवा तुम सवका ही क्या दोष है? मै ही पुण्यहीन हूं। फिर मेरे हाथमें रत्न कैसे रह सकते हैं? "सौभाग्यके उदयसे दूरके रक्खे हुए रत्न भी अपने पास आ जाते है, और पापके उदयसे हाथमें आये हुए भी न जाने कहा चले जाते हैं।" हाय! अव मै क्या करूं? कहां जाऊं, किस प्रकारसे जीऊं, और मरूं भी कैसे? हाय! यह मेरे लिये कैसा वुरा समय आया है। हाय! अव तुम्हारे विना मेरा यह शून्यरूप जन्म कैसे व्यतीत होगा। हाय! यह घटता हुआ प्रवल शोक मर्मच्छेदन करता है, शरीरका घात करता है, दुःख देता है, पीड़ाको उत्पन्न करता है, और सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंको शून्य कर देता है। (मूर्छित होकर गिरता है)

संकल्प—(घवराकर मनके मुहपर हाथ फेरता हुआ) हे स्वामिन्! सावधान हूजिये! सावधान हूजिये!!

मन—(किंचित् सावधान हो आंखें खोलकर) मेरी धर्मपत्नी प्रवृत्ति कहां गई? हाय! यहां तो वह भी नही दिखती है।

संकल्प—हे देव! उनका तो मोहादिका विनाश सुनते ही हृदय विदीर्ण होकर देहोत्सर्ग हो गया था।

मन—(दीर्घ श्वास लेकर) हाय! क्या मेरे सम्पूर्ण पापोंका एक ही वार उदय हो गया? मित्र संकल्प! चलो, दोनों एक साथ मिलकर झंपापात करें। जिससे उस प्राणप्यारीसे शीघ्र ही मिलाप हो जावे। अव ये दुःख नहीं सहे जाते। हे प्राण! जव प्यारी धर्म-

---

१ दूरस्थं सुलभं रत्नं पुंसां भाग्ये पचेलिमे।
हस्तागतं विपुण्यानामपि दूरं व्रजेत्पुनः॥

पत्नी ही चली गई, तब तुम किस लिये ठहरे हो? हाय! क्या तुम वज्रमयी हो गये हो? भला अब और कबतक जीना चाहते हो?—

चौपाई (१६ मात्रा)

[1]यदि तुम रहके भी जाओगे।
तो अब रहके क्या पाओगे?॥
क्योंकि बाद भी जाना होगा।
ऐसा साथ कहां फिर होगा?॥

बस अब इस जीवनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। अभी समुद्रमें डूबकर शोकानलको शीतल करता हूं!

[उठकर जाना चाहता है, इतनेमें अनुप्रेक्षा प्रवेश करती है]

अनुप्रेक्षा—मुझे श्रीमती वाग्देवीने वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये भेजा है। (समीप जाकर) हे वत्स! इस प्रकार अनालम्बका आलम्बन क्या ग्रहण कर रहे हो? चिरकालतक ठहरनेवाले सब ही पदार्थ पर्यायदृष्टिसे क्षय होते रहते है। तुम्हारे पालन किये हुए पुत्र ही कुछ कालवश नही हुए है, जो ऐसा अकृत्य करनेके लिये समुद्रपात करके आत्महत्या करनेके लिये तयार होते हो सुनो,—

द्रुतविलम्बित।

[2]जगतमें उतपन्न जु होत है।
नियमसों तिहिको छय होत है॥

---

१ स्थित्वापि यदि गन्तारस्ततः किं तिष्ठताधुना।
पश्चादपि हि गन्तव्यं क्व सार्थः पुनरीदृशः॥
२ जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
पज्जायसरूवेण य णय किं पिवि सासियं अत्थि॥ (स्वा०का०)

नहिं यहां कछु शास्वत सृष्टिमें ।
लखि परें जिय! पर्ययदृष्टिमें ॥

मन—हे भगवती! यह शरीर जीवादिकोंके किये हुए उपकारको नहीं जानता है और यह नहीं सोचता है कि मुझे इन्होंने अनेक वस्तुओंके द्वारा लालित पालित किया है, फिर मैं इनकी संगति कैसे छोड़ दूं?

अनुप्रेक्षा—कहा भी तो है;—

[1]असन पान सुगंधित वस्तु ले ।
करत लालन पालन हू भले ।
छिनकमें तन ये छय होत यों ।
जल भर्यो मृतिकाघट होत ज्यों ॥

मन—भगवती! इस आत्माका कोई रक्षक भी है?

अनुप्रेक्षा—नहीं, कोई नहीं है;—

[2]यदि यहांपर मंत्र सु तंत्रसों ।
विविधि देवनसों रखपालसों ॥
मनुज रक्षित ह्वै मरते नहीं ।
सकल ही तब तो रहते यहीं ॥

मन—माता! संसारमें आत्माको कोई शरणभूत भी है?

अनुप्रेक्षा—नहीं;—

---

१ अइलालिओ वि देहो ण्हाणसुगंधेहि विविहभक्खेहिं ।
खणमित्तेण य विहडइ जलभरिओ आमघड उव्व ॥

२ जइ देवो वि य रक्खइ मंतो तंतो य खेत्तपालो य ।
मियमाणं पि मणुस्सं तो सयला अक्खया होंति ॥

(स्वामिकार्तिकेयानु०)

जहँ[1] अनेक नरेश सुरेशसे ।
हरि प्रजापति और महेशसे ॥
विलयमान भये सब ही अरे ।
शरण कौन तहाँ मन! बावरे ॥

मन—भगवती! कोई भी तो शरण होगा?

अनुप्रेक्षा—हां एक है ।

मन—कृपाकरके बतलाओ कि, वह कौन है?

अनुप्रेक्षा—सुनो,—

चौबोला ।

तन[2] तरुवरसों सघन, दुःखके,
हिंस्र पशुनसों मांचा है ।
बुधि-जल-विन सूखो, आशाकी,
विकट अनलमय आंचा है ॥
नाना कुनयमार्गसों दुर्गम,
यह भववन गुरु जांचा है ।
यामैं पथदर्शक शरण्य इक,
'जिनशासन' ही सांचा है ॥

मन—कुछ जीवनका भी उपाय है?

---

१ तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसए विलओ ।
हरिहरबंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥ (स्वा० का०)

२ किं तद्देहमहीज-राजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशाविकरालकालदहने शुष्यन्मनीपावने ।
नानादुर्नयमार्गदुर्गमतमे दृग्मोहिनां देहिनां
जैनं शासनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥

अनुप्रेक्षा—नहीं भाई! न ऐसा कोई उपाय है, और न होगा, जिससे जीवोंका चर्वणा करनेमें प्रवृत्त हुआ यमराज रोका जा सके। काल आनेपर जब अहमिंद्र सरीखे शक्तिशालियोंका भी पतन हो जाता है, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? जो प्रचंड अग्नि कठोर पाषाणोंसे परिपूर्ण पर्वतको भी भस्म कर डालती है, उससे घासका समूह कैसे बच सकता है?

मन—तो भगवती! अब कृपाकरके मुझे कोई ऐसा तत्त्वोपदेश दीजिये, जिससे मेरा यह शोकका वेग नष्ट हो जावे।

अनुप्रेक्षा—बेटा! अपने आत्माको एकत्वरूप देखनेसे शोकका आवेग नहीं रहता है। यह चिदानन्द आत्मा निरन्तर अकेला ही है। जैसे कि, सीपके टुकड़ेमें चांदीका भ्रम हो जाता है, उसी प्रकारसे अन्यान्य कुटुम्बी जनोंमें जो निजत्व बुद्धि होती है, वह केवल विकल्प अथवा भ्रम है। और हे मन! इस अपवित्र शरीरमें प्रमोद क्यों मानता है? देख कहा है कि,—

रुधिर-मांस-रस-मेदा-मज्जा,
अस्थि-वीर्यमय अशुचि अपार।
घृणित शुक्र औ रजसे उपजा,
जड़ स्वरूप यह तन दुखकार॥
इसमें जो कुछ तेज कान्ति है,
समझ उसे चैतन्यविकार।
इससे मोद मानना इसमें,
सचमुच लज्जाकारी यार॥

इसके सिवाय "हे मन! तू भ्रममें क्यों पड़ा हुआ है? ये पांचों इन्द्रियोंके विषयसुख जिनमें कि स्त्रीसुख सबसे सुन्दर है,

इन्द्रजालके समान मनोहर है, अन्तमें विरस हैं, और केवल अ-भिमानसे (अपना माननेसे) सरस है। इनमें मोहका करनेवाला है ही क्या? और स्त्रियां है, सो दर्पणमें दिखते हुए आडम्बर पूर्ण प्रतिविम्बोंके समान केवल मोहकी देनेवाली हैं।" और भी कहा है कि, "परिग्रहरूपी पिशाचसे मुक्त हुई जो चित्तकी भ्रमरहित विचारधारा है, वही उत्कृष्ट आत्मीक आनन्दरूप अमृतकी वहानेवाली है।"

मन—हे भगवती! अच्छा हुआ, जो मुझे अन्तकालमे प्रतिबोधित करनेवाले तथा उत्तरके सहनेवाले आपके मुखका दर्शन हो गया। [पावोंपर पड़ता है

अनुप्रेक्षा—बेटा! सुखी हो, शान्त हो, अब वृथा संताप मत कर और विचार कर कि, "तू कौन है? तेरा पिता कौन है? तेरी माता कौन है और तेरा पुत्र कौन है? हाय! इस सारहीन संसारमें तो कोई भी किसीका सम्बन्धी अथवा सहायक नहीं है।"[1]

मन—हे माता! आपके प्रभावसे मेरी शोकरूपी अग्नि तो बुझ गई। परन्तु अभी शोकके घाव गीले हो रहे हैं, इसलिये उनको अच्छे करनेकी कोई औषधि बतलाइये।

अनुप्रेक्षा—बेटा! मर्मके छेदनेवाले और चित्तको उखाड़नेवाले तात्कालिक शोकोंकी, यही बड़ी भारी औषधि है कि, उनको भूल जावे।

मन—देवि! सह सत्य है। परन्तु यह दुर्निवार चित्त प्रयत्न करनेपर भी शोकको नहीं भूलता है—शान्त नहीं होता है।

---

१ कस्त्वं को वाऽत्र ते तातः का माता कस्तनूद्भवः।
निस्सारे बत संसारे कोऽपि कस्यास्ति नो किल॥

अनुप्रेक्षा—किसी शान्तिस्वरूप विषयमें लगा दो, जिसमें फिर मनोविकार उत्पन्न न होवें ।

मन—ऐसा शान्तिका विषय क्या है?

अनुप्रेक्षा—गुरुदेवका उपदेश चाहे जिसको नहीं बतलाना चाहिये । परन्तु तू अतिशय दुखी है, इसलिये बतलाती हूं कि;—

रोला ।

[1]समरस सुखका देनेवाला, मंत्र सुलक्षण ।
अविनाशी आनन्दयंत्र, जगमित्र विलक्षण ॥
भवभयतरु-हर-दात्र[3], सार सब तंत्रनको[4] गण ।
अर्हतमंत्र पवित्र, कहो नित अहो विचक्षण ! ॥

मन—(विचार करके) हे भगवती! आपकी कृपासे मैं नरकमें पड़ते २ बच गया आपको धन्यवाद है ।

अनुप्रेक्षा—यह भोला संसार अनित्य पदार्थोंको नित्य समझ कर भ्रमण कर रहा है । फिर उसमें यह बेचारा पराधीन जीव जिनेन्द्र भगवानके बतलाये हुए आत्माके चैतन्य चित्स्वरूपको कैसे देख सकता है?

[वैराग्यका प्रवेश ।]

वैराग्य—(पढ़ता है)

दोहा ।

विद्युतवत अतिशय अथिर, पुत्र मित्र परिवार ।
मूढ़ इन्हें लखि मद करत, बुधजन करत विचार ॥

१-कलितसकलतन्त्रं नित्यमानन्दयन्त्रं
भवभयतरुदात्रं सत्त्वपीयूषपात्रम् ।
जगदकलुषमन्त्रं सर्वविश्वैकमित्रं
समरससुखसत्रं तं भजार्हन्तमन्त्रम् ॥

२ नदावर्त । ३ दाता—हँसिया । ४ शास्त्रोंका—सिद्धान्तोंका ।

महा दुखद मरुभूमिमें, देख दूरसों नीर ।
भोले मृग ही प्यासवश, दौरि सहैं वहु पीर ॥
चंचल लक्ष्मी वय चपल, देह रोगको गेह ।
तौ हू इहि संसारमें, स्वातमसों नहिं नेह ॥

[फिर पढ़ता है ।

अनुप्रेक्षा—बेटा! देखो, यह वैराग्य तुम्हारे पास आ गया । अब तुम्हें इसकी अच्छी तरहसे संभावना करना चाहिये ।

मन—प्यारे पुत्र! आओ ।

वैराग्य—(समीप जाकर) हे देव! मै नमस्कार करता हूं ।

मन—(सिरपर हाथ रखकर) बेटा! इतने दिनतक तुमने अपने पिताका स्मरण क्यों न किया? अच्छा किया, जो इस समय आ गये । एकवार आओ, मै तुम्हें छातीसे लगा लूं । (हृदयसे लगाकर) प्रिय सुपुत्र! आज तुम्हारा स्पर्श करनेहीसे मेरी दुखाग्नि शात हो गई ।

वैराग्य—तात! इस ससारमें शोक किसका और कैसा? जहां बालकपन यौवनके द्वारा नष्ट हो जाता है, यौवन जराके द्वारा बिदा माँग जाता है और जराको निरन्तर मरण घेरे रहता है, वहॉ प्राणी शोक क्यो करते है, समझमें नहीं आता । किसीने कहा है,—

राग खेमटा ।

वतलाओ हे बुधिवान, विधिसों कौन वली ॥ टेक ॥
अणिमादिक वर महिमामंडित, सुरपति[1] विभवनिधान ।
ताको लंकापतिने मार्‌यो, जानत सकल जहान ॥ विधि० ॥

---

[1] देवजातिके विद्याधरोंके स्वामी इन्द्र विद्याधरको ।

पुनि तिहि रावण राक्षसको हू, रामचन्द्र वलवान।
पारावार अपार लांघिके, मस्तक काट्यो आन ॥ विधि० ॥
किन्तु हाय वे रामचन्द्र हू, रहे न रघुकुलप्रान ॥
कालकरालव्यालके मुँहमें, भये विलीन निदान ॥ विधि० ॥

मन—(आल्हादित होकर अनुप्रेक्षासे) भगवती! यथार्थमें ऐसा ही है।

अनुप्रेक्षा—हे मन! यदि तुझे अपनी स्त्रीका स्मरण हो और नवीन गृहिणीके साथ रमण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती हो, तो अब धृतिको अंगीकार कर ले। इसके सिवाय अब प्रबोधादिको पुत्र मानकर पाल, और शम दमादिको निरन्तर अपनी संगतिमें रखके आनन्दसे दिन व्यतीत कर।

मन—(लज्जासे मस्तक नीचा करके) आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है।

अनुप्रेक्षा—(मनको परमात्माका सेवक बनाती है। मन चरणोंमे सिर झुकाकर प्रणाम करता है) हे वत्स! यदि तुम मेरे वतलाये हुए क्रमके अनुसार वर्ताव करोगे, तो यह निश्चय समझो कि, पुरुष स्वयमेव जीवन्मुक्त हो जावेगा। इसलिये मेरी दी हुई सुशिक्षा हृदयमें धारण करके तदनुसार वर्ताव करो, जिससे आत्मा पुरुष अपने तेजसे प्रकाशमान होता हुआ आनन्द समुद्रमें मग्न हो जावे।

इति श्रीवादिचन्द्रसूरिविरचिते श्रीज्ञानसूर्योदयनाटके तृतीयोऽङ्कः समाप्तः।

अथ चतुर्थोङ्कः ।

स्थान—प्रवोध महाराजका वैठकखाना ।

श्रद्धा—मै महाराजाधिराज श्रीप्रवोधराजकी आज्ञासे हाजिर हुई हूं ।

प्रवोध—हे श्रद्धे! यहाका सव वृतान्त तो तुम्हें विदित ही है। तौ भी कहता हूं कि, "चित्तमें प्रशमका प्रवेश होनेपर, क्रोध काम, और मानके नष्ट होनेपर और मोहकें छुप जानेपर पुरुष अर्थात् आत्मा विवेकका स्मरण करता है ।" इसलिये तुम भगवती वाग्देवीके समीप जाकर जितनी जल्दी हो सकै, श्रीमती अष्टश-तीको मेरे पास ले आओ ।

श्रद्धा—जो आज्ञा । [जाती है । पटाक्षेप]

द्वितीयगर्भाङ्कः ।

स्थान—राजमार्गका चौराहा ।

[क्षमा और श्रद्धाका मिलाप ।]

क्षमा—हे श्रद्धे! आज मेरे चित्तमें आनन्दके अकुर फल गये । क्योंकि जितने शत्रु थे, वे सव नष्ट हो गये, और अपने सम्पूर्ण इष्ट स्वजन मिल गये ।

श्रद्धा—हे वहिन! इतने आनन्दमें आज कहा जा रही हो?

क्षमा—आत्माने मुझे आज्ञा दी है कि, प्रवोधको जाकर वुला लाओ, मै उसे देखना चाहता हूं ।

श्रद्धा—(सहर्ष) यह भी तो मै स्वप्न ही देख रहा हूं, कि आत्माने प्रवोधका स्मरण किया है। अस्तु, यह तो कहो कि, अव

आत्माकी मनोभिलाषा कुमति स्त्रीकी ओर कैसी रहती है, जिसके कहनेसे वह प्रबोध पुत्रको छोड़कर मोहमें ही लीन हो गया था।

क्षमा—सखि! अब तो स्वामी (आत्मा) उस कुमतिका मुंह भी नहीं देखते हैं, अभिलाषा तो दूर रही।

श्रद्धा—यह बहुत अच्छा हुआ। क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थोंकी बीजभूता वही एक पापिनी थी। फिर क्यों बहिन! आत्मा अपनी कुमति स्त्रीके बिना कैसे समय व्यतीत करता है?

क्षमा—अब तो वह सुमति भार्यामें आसक्त चित्त हो गया है। उसीमें तल्लीन रहकर कालक्षेप करता है।

श्रद्धा—अच्छा! अब मालूम हुआ! इसीलिये उन्होंने प्रबोधका स्मरण किया है। प्रबोध सुमतिका प्यारा पुत्र है। चलो, अपने २ नियोगकी साधना करें। मैं अष्टशतीके लेनेके लिये जाती हूं, और तुम प्रबोध महाराजको बुलानेके लिये जाओ।

[दोनों जाती हैं। पटाक्षेप।

तृतीयगर्भाङ्कः।

स्थान—आत्माके महलका एक एकांत कमरा।

पुरुष—अहो, यह प्रसाद श्रीमती अर्हद्वाणीका ही है, जिससे मेरे सम्पूर्ण उपसर्ग नष्ट हो गये, दुःखसमुद्रकी भीषण तरंगोंसे मैं तिर गया। संसाररूपी वृक्षकी विस्तृत जड़ कट गई और उसकी क्लेशरूप सैकड़ों शाखायें सूख गईं।

[अष्टशती और श्रद्धाका प्रवेश]

अष्टशती—सखी! मैं चिरकालमें अपने श्वसुरका मुख कैसे देखूंगी? जिन्होंने मुझे आजन्मसे ही अकेली छोड़ दी है। उन्होंने

मेरा सामान्य ग्राम्यजनोंकी स्त्रियोंके समान अनादर किया और कभी एक दिन भी मेरे लिये बुलावा नहीं भेजा ।

श्रद्धा—देवी! कुमति स्त्री जिसकी अनादिकालसे प्रतारणा कर रही है, वह पुरुष भला तुझे कैसे बुलाता?

अष्टशती—सखी! तुझे मेरी अवस्थाका ज्ञान नहीं है, इसीलिये ऐसा कहती है । श्वसुर चाहे सुखी हो, चाहे दुखी हो, परन्तु उसे अपनी पुत्रवधूको बुलाना ही चाहिये ।

श्रद्धा—निस्सन्देह! यह तो चाहिये ही ।

अष्टशती—श्रद्धा! किंचित् मेरी दुर्दशाका स्वरूप तो सुन ले;—

[1]जो एक वसन मम कटिपै मलिनस्वरूपा ।
　सो फटा पुराना अतिशय गलित कुरूपा ॥
नहिं और चीरको खंड एक हू हा! हा! ।
　जासों ढकि अपनी देह करूं निरवाहा ॥
जाने दो और अभूषण सुन्दर प्यारे ।
　इन पाँयनिमे पायल हू कवहुँ न धारे ।
यों वहिनी! मेरी विपदाभरी कहानी ।
　करमोंकी लीला अजगुत कोउ न जानी ॥

श्रद्धा—भगवती! निस्सन्देह ऐसा ही होगा । परन्तु यह सब पापी मोहकी चेष्टासे हुआ है । तुम्हारे श्वसुरका इसमे कोई अपराध नहीं है । वे कुमतिके कारण जब तुम्हारे पतिको ही सरण नहीं

---

१ एकं वस्त्रं च कट्यां तदपि हि जरठं शीर्णमत्यन्तमासीत्
नैवं चीरस्य खण्डं परमपि विततं येन देहं प्रवेष्ट्यम् ।
आस्तांमन्या विभूषा कटकयुगमपि प्रोल्लसन्नैव पादे
हा धिक् कर्म प्रगाढं व्यथयति जनतामेवमत्यन्तदुःखम् ॥

करते थे, तब तुम्हें तो करते ही कैसे? परन्तु तुम कुलवती होकर भी अपले पतिके अवलोकन करनेके लिये जिसे कि पुरुषने तिरस्कार करके अलग कर दिया था, एक वार भी नहीं आई! यह मेरी समझमें तो अनुचित हुआ है। पतिव्रता स्त्री वही है, जो दुःखके समय पतिकी सेवा करती है। सुखके समय तो अकेली तुम/ही क्या, सब ही लोग सेवा करनेके लिये आ जाते है। परन्तु अब इन बातोंसे क्या लाभ? जो हुआ सो हुआ। इसमें किसीका दोष नहीं है। भवितव्यके योगसे ऐसा ही बन जाता है। चलो, प्रिय संभाषणसे अपने श्वसुरको और पतिको प्रसन्न करो।

अष्टशती—सखी! मुझे अधिक लज्जित न करो, अब तुम जो कुछ कहोगी उसे मैं अवश्य करूंगी।

[श्रद्धा और अष्टशती एक ओरको छुपकर खड़ी हो जाती हैं प्रबोध और क्षमा प्रवेश करते हैं।]

प्रबोध—क्षमा! फिर अष्टशती और श्रद्धा तो नहीं आई? क्या तुम जानती हो कि, अष्टशती कहां है? और वह श्रद्धाको मिलेगी या नहीं?

क्षमा—महाराज! सुना है कि, श्रीमती अष्टशती कुतर्क विद्याओंके डरसे श्रीमत्पात्रकेशरीके मुखकमलमें प्रविष्ट हो गई है।

प्रबोध—वह कुतर्क विद्याओंसे भयभीत क्यों हो गई?

क्षमा—राजन्! यह तो वे ही आकर सुनावेंगीं। मैं विशेष नहीं कह सकती हूं। (अंगुलीसे दिखलाकर) चलिये ये आपके परमाराध्य पिता एकान्तमें विराजमान हैं, उनसे मिल लीजिये।

प्रबोध—(समीप जाकर) पूज्य जनक! यह आपका सेवक तीनवार अभिवन्दन करता है।

पुरुष—(आनन्दसे गद्गद होकर) आओ वेटा! एकबार समीप आओ, तुम्हें हृदयसे लगाकर सुखी होऊं। कुमतिकी प्रतारणामें भूलकर मैंने तुम्हारा वहुत कालतक अनादर किया है, सो क्षमा करो। तुम ही मेरे पारमार्थिक सुपुत्र हो। अन्य सब तो उपाधि रूप और भ्रम उत्पन्न करनेवाले थे। आजका दिवस अत्यन्त ही कल्याणकारी हुआ, जिसमें तुम्हारा दर्शन हुआ । तुम वड़े ही शुभ अवसरपर आये। आओ, यहां पर वैठो।

प्रवोध—(समीप ही एक ओर बैठ जाता है)

श्रद्धा—(अष्टशतीसे धीरेसे) प्यारी देवी! देखो, ये पुरुष महाशय तुम्हारे प्राणपति प्रवोधके साथ एकान्तमें विराजमान है ।

अष्टशती—(समीप जाकर पुरुषके चरणोंमें पड़ जाती है)

पुरुष—(हाथसे निवारण करता हुआ) नहीं! नहीं, तुम मेरे चरणोंमें पड़ने योग्य नहीं हो। वल्कि अनुग्रह करनेके कारण तुम ही नमस्कार करनेके योग्य हो। नीतिमें कहा है कि—

"अनुग्रहविधिर्यस्मात्स नमस्यो जनः सताम्"

अर्थात् जो अपनेपर दया करता है, वह नमस्कार करनेके योग्य होता है। अतएव इस न्यायसे मेरे लिये तुम ही वन्दनीय हो। वेटी! आओ, प्रसन्नतापूर्वक यहा वैठो। और कहो कि, इतने दिन तुमने कहॉ और किस प्रकारसे व्यतीत किये।

अष्टशती—(वैठके और लज्जासे मस्तक झुकाकर) पूज्यवर! मुझे जड़ मूर्ख लोगोंके साथमें रहकर ये कष्टके देनेवाले दिन व्यतीत करना पड़े है।

पुरुष—वे जड़वुद्धि तुम्हारे तत्त्वोंको जानते है कि नहीं?

अष्टशती—नहीं! वे मेरा स्वरूप तथा मेरे पदार्थ जाने विना ही निन्दा करने लग जाते है। क्योंकि, उन्हें केवल निन्दा करनेहीसे प्रयोजन रहता है, विचार करनेसे नहीं।

पुरुष—अच्छा फिर, तुम्हारा उनके साथ किस प्रकारसे परिचय हुआ, और क्या २ वार्तालाप हुआ, सो संक्षेपरूपसे सुनाओ, तो अच्छा हो।

अष्टशती—जो आज्ञा। सुनिये। मार्गमें भ्रमण करते हुए एक वार मुझे **सांख्यविद्या** मिली। उससे मैंने अपने ठहरनेके लिये स्थान मांगा। तव उसने पूछा, तुम्हारा क्या स्वभाव है? क्या स्वरूप है? तव मैंने कहा कि, "मैं **अनेकान्तस्वभाव** हूं।" वह बोली "अनेकान्तस्वभाव किसे कहते है?" मैंने कहा;—'कथंचित् अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे संसार नित्य है और कथंचित् अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे वही संसार अनित्य है। भावार्थ—यह जगत् न तो सर्वथा नित्यरूप है, और न सर्वथा अनित्यरूप है। अतएव मेरा स्वभाव विश्वको कथंचित् नित्यानित्यस्वरूप श्रद्धान करनेवाला है। यह सुनकर उसने कहा "अरी वाचाल! संसार अनित्य कैसे हो सकता है? आगमसे सिद्ध है कि, स्वर्ग ध्रुव है पृथ्वी ध्रुव है, आकाश ध्रुव है, और ये पर्वत ध्रुव है। अर्थात् ये सव पदार्थ नित्य है। और वस्तुके तिरोभाव तथा आविर्भावसे जो अनित्यरूप भ्रांति उत्पन्न होती है, सो सव मिथ्या है। यह वात जव अच्छी तरहसे निर्णीत हो चुकी है, तव तू संसारको अनित्य कैसे कहती है? मैंने कहा;—

"नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्" ॥ ३७॥
(आप्तमीमांसा)

"पदार्थको एकान्त (सर्वथा) ही नित्य माननेसे उसमें विक्रियाका अभाव हो जावेगा। और क्रियाके अभावसे अर्थात् रूपान्तर न होनेसे कर्त्ताआदि कारकोंका पहले ही अभाव हो जावेगा। क्योंकि कारकोंकी संभावना तभी होती है. जब पदार्थोंकी उत्पाद और नाशरूप क्रिया होती है। और जब कारक नहीं होंगे, तब अनुमानादि प्रमाण और इनके फलोंकी (प्रमितिकी) संभावना कैसे हो सकती है? नहीं! क्योंकि प्रमाणके करनेवाले कारक होते हैं।" और जो वस्तु सर्वथा एकरूप तथा नित्यस्वभाव है, वह अर्थ क्रियाको नहीं कर सकती है। यदि कहो कि, कर सकती है. तो बतलाओ, वह एक स्वभावरूप रहकर करती है, अथवा अनेक स्वभावरूप होकर करती है? यदि एक स्वभावसे करती है. तो सम्पूर्ण विश्व एकरूप होना चाहिये। और यदि अनेक स्वभावसे करती है, तो वह तुम्हारी सर्वथा कूटस्थ, नित्य, और अनेक स्वभावरूप वस्तु, अनित्य हो जावेगी। क्योंकि कार्यकारणादिरूप पूर्व स्वभावको छोड़कर उत्तर स्वभावको ग्रहण करना ही अनित्यपना है। अतएव तुम्हें कथंचित् अनित्यत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।" यह सुनकर उसने कहा कि, "तुम्हारे सगसे हमारे शिष्यगणोंकी श्रद्धा सर्वथा नित्यस्वरूप विश्वके माननेसे उठ जावेगी. अर्थात् हमारे पक्षके माननेमें वे शिथिल हो जावेंगे। इसलिये प्रसन्न होकर तुम अपने इष्ट स्थानके लिये गमन करो।" इस प्रकारसे हे पिता! मुझे सांख्यविद्याने अपने यहां नहीं रहने दिया।

पुरुष—अच्छा फिर तुमने क्या किया?

अष्टशती—तब मैं उसका उल्लंघन करके आगे गई, कि साम्हने ही बौद्धविद्या दिखलाई दी। मैंने उससे भी रहनेके लिये स्थानकी प्रार्थना की। सो उसने भी पूछा कि, "तुम्हारा क्या स्वभाव है?" मैंने पहलेके समान ही कहा कि, "संसार कथंचित् अनित्य है और कथंचित् नित्य है।" यह सुनते ही उसने कहा, "अरी पापिनी! संसारको नित्य कैसे कहती है? देखती नहीं है कि, सम्पूर्ण ही वस्तुएं सत्वरूप (सत्पना) होनेसे बिजली आदिके समान क्षणिकस्वरूप है। 'यह वही दीपशिखा है,' इस प्रकारकी नित्यत्वकी भ्रान्ति सादृश्य परिणामके कारण होती है। अर्थात् दीपककी शिखायें एकके पश्चात् एक इस प्रकार प्रतिक्षणमें होती जाती है, परन्तु पहली शिखाके समान ही दूसरी शिखा रहती है, और दूसरीके समान तीसरी चौथी, पाचवीं आदि। इसी समानताके कारण भ्रम होता है कि, यह वही दीपशिखा है, जो पहले थी। परन्तु यथार्थमें सम्पूर्ण ही पदार्थ क्षणिक हैं। फिर उन्हें नित्य कैसे कह सकते हैं?"

पुरुष—अच्छा, तब तुमने इसका क्या उत्तर दिया?

अष्टशती—मैंने कहा कि;—

> क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
> प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥

अर्थात् "सर्वथा क्षणिक माननेपर भी विक्रिया (पर्याय) नहीं हो सकती है। क्योंकि जिस वस्तुकी उपादानकारणरूप पूर्व पर्यायका प्रथम क्षणमें ही सर्वथा नाश हो चुका, उससे कार्यरूप उ-

त्तरपर्यायकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकेगी । और जब उत्तरपर्यायरूप क्रिया ही न होगी, 'तब यह प्रमाण है, और यह उसका फल है' इस प्रकारका व्यवहार भी नहीं रहेगा । इसी लिये मेरा कथन है कि जो वस्तु सर्वथा सर्व स्वभावसे विनाशीक होगी, वह कारणरूप पूर्व क्रियाका सर्वथा नाश हो जानेसे अर्थक्रियाकी करनेवाली नहीं हो सकेगी । जैसे कि कथंचित् नष्ट हुई जलकी तरंग, जलस्वभावको न छोड़कर नष्ट होनेके कालसे उत्तरकालमें अर्थात् एक समयमें नष्ट होकर दूसरे समयमें दूसरी तरंगको उत्पन्न कर देती है, सर्वथा नष्ट नहीं होती है । यदि वह सर्वथा नष्ट हो जाती, तो दूसरी तरंगको उत्पन्न करनेरूप अर्थक्रियाको नहीं कर सकती । यदि कहा जावे कि, सर्वथा नष्ट होनेपर भी अर्थक्रियाका सम्पादन होता है, तो अतिप्रसग दोष हो जावेगा :- अर्थात् गधेके सींगोंसे भी कार्यकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी । क्योंकि कारणरूप पूर्वपर्यायका अभाव दोनों जगह समान है । अतएव कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी होती है, सर्वथा एक और अनित्यस्वभाव वस्तु नहीं !"

पुरुष—पश्चात्—

अष्टशती—तव उसने कुछ विचार कर कहा. "तुम्हारा भला हो । तुम इस देशसे चली जाओ । यहा तुम्हारे रहनेके लिये स्थान नहीं है ।" इस प्रकारसे जब उसने भी मेरी अवज्ञा की, तब मै आगे चल पड़ी ।

पुरुष—फिर क्या हुआ?

अष्टशती—आगे मार्गमें मुझे मीमांसाविद्या दिखलाई

दी। मैंने सोचा यह मूर्खा मुझे पहिचान लेवेगी, इसलिये इसके समीप चलना चाहिये। निकट जाकर उससे भी मैंने निवासस्थानकी याचना की। उसने पूछा, तुम्हारा क्या स्वभाव है, मैंने कहा कि;—

स्यादभेदात्मकं विश्वं महासत्तानियोगतः।
भेदात्मकं तदेव स्याल्लघुसत्तानियोगतः॥

अर्थात् "यह जगत् महासत्ताके नियोगसे अर्थात् सामान्य सत्ताकी (अस्तित्वकी) अपेक्षासे अभेदरूप है और लघुसत्ताके नियोगसे अर्थात् विशेष अस्तित्वकी अपेक्षासे भेदरूप है।" इस प्रकारसे विश्वको कथंचित् एकानेकान्तात्मक श्रद्धान करना मेरा स्वभाव है। यह सुनते ही उसने कहा, "अरी आत्माकी वैरिणि! विश्वको भेदात्मक कैसे कहती है? एक अद्वैत ही पारमार्थिक तत्त्व है. न कि द्वैत। क्योंकि वह (द्वैत) अवस्तुरूप है। जैसे कि, सीपमें चांदीका प्रतिभास। सीपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे जैसे चांदीका प्रतिभास विलयमान हो जाता है, उसी प्रकारसे अद्वैत ब्रह्मके ज्ञानसे अवस्तुभूत द्वैतका प्रतिभास नष्ट हो जाता है। अतएव विश्वको भेदात्मक कैसे कह सकते है?" तब मैंने कहा कि, "सीपमें जिसका प्रतिभास होता है, वह चांदी अनुपलब्ध वस्तु नहीं है। और उपलब्ध वस्तु ही प्रतिभासित होती है, सर्वथा अनुपलब्ध वस्तु नहीं। यदि अनुपलब्ध वस्तुका भी प्रतिभास माना जावेगा,

१ जिस सत्वरूप धर्मके सम्बन्धसे हरएक पदार्थको सत् कहते हैं, उसे महासत्ता कहते हैं। उस महासत्ताके योगसे सम्पूर्ण पदार्थ अभेदरूप हैं। २ और जिन विशेष धर्मोंकी अपेक्षासे जीव पुद्गलादि मनुष्य पशु आदि अन्तर्भेद माने जाते हैं, उसे लघुसत्ता कहते हैं। जैसे जीवत्व पुद्गलत्व मनुष्यत्व क्षत्रियत्वादि।

तो अतिप्रसंग दोषसे गधेके सींगोंका भी प्रतिभास मानना पड़ेगा। सारांश यह है कि, सीपमें चांदीका भ्रम तब होता है, जब चांदी कोई एक पदार्थ है। यदि चांदी अवस्तुस्वरूप होवै, उसे किसीने देखी सुनी नहीं होवै, तो तद्रूप भ्रम नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध है कि, अद्वैतमें जो द्वैतका प्रतिभास होता है, वह द्वैत कोई वस्तु अवश्य ही है। श्रीसमन्तभद्रस्वामीने भी कहा है,—"

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥(आ.मी.)

अर्थात् द्वैतके विना अद्वैत नहीं हो सकता। जैसे कि हेतुके विना अहेतु। अर्थात् जब तक हेतु नही होगा, तब तक उसका प्रतिषेध करनेवाला अहेतु प्रसिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि नामवाले पदार्थोंका प्रतिषेध प्रतिषेध्यके विना नहीं हो सकता है। अतएव जो २ नामवाले पदार्थ है, उनका निषेध उन पदार्थोंके स्वयं अस्तित्वके विना कहीं भी नहीं हो सकता है। जैसे संसारमे पुष्प कोई एक वस्तु है, तब ही 'आकाशपुष्प' संज्ञा प्रसिद्ध है। यदि पुष्प ही कोई पदार्थ नहीं होता, तो 'आकाशपुष्पसंज्ञा' नहीं हो सकती। इसी प्रकारसे द्वैतके विना अद्वैत ऐसा जो प्रतिषेधरूप शब्द है, वह नहीं हो सकता।" यह सुनकर उस मीमासक विद्याने भी मेरा अनादर किया।

पुरुष—तब?

अष्टशती—मै उसको छोड़कर आगे चली थी कि, मार्गमें **न्यायविद्यासे** साक्षात हो गया। उसने भी पूछा, तुम्हारा क्या स्वभाव है, मैंने पूर्वपठित श्लोक कहकर अपना स्वरूप प्रगट किया;—

स्यादभेदात्मकं विश्वं महासत्तानियोगतः।
भेदात्मकं तदेव स्याल्लघुसत्तानियोगतः॥

यह सुनकर न्यायविद्याने कहा; "हे विरुद्धार्थवादिनि! ऐसा क्यों कहती है कि, विश्व अभेदात्मक है? जानती नहीं है कि, द्रव्य गुण कर्मादि सब पृथक्त्व गुणके निमित्तसे घट पटके समान जुदे है।"

पुरुष—अच्छा फिर?

अष्टशती—मैंने कहा;—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः॥ (आ.मी.)

अर्थात्—पृथक्त्व एकान्त पक्षमें भी पृथक्त्व गुणसे गुण और गुणी दोनों अपृथक्भूत (एकरूप) अंगीकार करना पड़ेंगे। और यदि उस पृथक्त्वसे गुण गुणी भिन्न माने जावेंगे, तो पृथक्त्व गुण ही न रहेगा। क्योंकि वह पृथक्त्व गुण अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला है। और ऐसी अवस्थामें उसे गुण गुणीसे भिन्न भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ऐसा माननेसे वे स्वयं सब एकरूप हो जावेंगे, अथवा अभावरूप हो जावेंगे। अतएव भेदपक्ष भी कल्याणकारी नहीं है।

प्रबोध—बहुत अच्छा कहा! युक्ति और प्रमाणयुक्त वचन ही सुननेमें सुखदाई होते है, विनाप्रमाणके तथा विनायुक्तिके नहीं।

---

१ इसका अर्थ पहले पृष्ठमें लिखा जा चुका है।

२ नैयायिक लोग एक पृथक्त्व गुण मानते हैं, जो सम्पूर्ण पदार्थोंमें रहता है। इसी गुणके योगसे समस्त पदार्थ पृथक् २ रहते हैं।

अष्टशती—अवश्य, ऐसा ही है।

पुरुष—तो भेद किस प्रकारसे है?

अष्टशती—अरहंत भगवानमें और आपमें जो भेद है, सो सब पापी मोहका किया हुआ है। जिस समय मोहका सर्वथा नाश हो जावेगा, उस समय आपको उनके साथ सदानन्दस्वरूप एकत्व प्रतिभासित होने लगेगा! अर्थात् आप भी उन्हीं स्वरू[illegible] जावेंगे। जिस प्रकारसे घटके नाश होनेपर घटका आका[illegible] आकाशस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकारसे मोहका विनाश होनेपर आप अरहंतस्वरूप हो जावेंगे।

पुरुष—(सानन्द) यदि ऐसा है, तो मैं मोहको अवश्य मारूंगा। हे देवि! मोहके मारनेका कोई उपाय हो, तो वतलाओ।

अष्टशती—सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका संहार करके यदि आप अ[illegible]पने आत्मा के द्वारा आत्मामें ही स्थिर होंगे, तो मोहका समूल क्षय हो जावेगा।

पुरुष—हे अष्टशती! मै आप अपने आत्मामें कैसे स्थिर होऊं?

अष्टशती—आत्माके ध्यानसे आत्मामें स्थिर हो सकोगे।

[ध्यानका प्रवेश]

ध्यान—मुझे भगवती वाग्देवीने आज्ञा दी है कि, तुम जाकर पुरुषके हृदयमें निवास करो।

पुरुष—हे वत्स! आओ, वहुत अच्छे समयमें तुम्हारा आगमन हुआ है। जो स्वयं समीचीन है, वह समीचीन समयमें ही आता है। वेटा! समीप आओ, जिससे मै हृदयसे लगाकर सुखी होऊं।

ध्यान—(पुरुषको आलिंगन देता है)

पुरुष—(आल्हादित होता है और चार प्रकारके धर्मध्यानका और शुक्लध्यानके पहले दो पायोंका नृत्य कराता है। अर्थात् चिन्तवन करता है)

[ध्यानकी शक्ति दशोंदिशाओंको उल्लासित करके, वारवार आत्मामे सल्लीन हुए अतुल अन्तर्मलोंको अग्निके समान नष्ट करके, दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीय अन्तराय सहित मोहको विनाश करके और पुरुषमें प्रबोधका उदय करके अन्तर्धान हो गई।"]

पुरुष—(आश्चर्यपूर्वक) मोहांधकारका नाश करके यह देखो प्रभात हो गया है!

प्रबोध—अहो! मोहके अभावसे और भगवतीके प्रसादसे मेरा भी महोदय हुआ। (सभाकी ओर मुँह करके) वाग्देवीने संसाररूपी वृक्षके बीजभूत मोहको सम्पूर्णतया मथन करके ऐसा प्रकाश किया है, जिससे अब समस्त संसार हथेलीमें रक्खे हुए मोतीके समान यथावत् दिखलाई देता है।

(वाग्देवीका प्रवेश)

वाग्देवी—(हर्षसे रोमांचित होती हुई समीप जाकर) मैं चिरकालके पश्चात् आज पुरुषको अरहंतके स्वरूपमें तथा प्रबोधको शत्रुरहित और उदयप्राप्त अवस्थामें देखती हूं।

पुरुष—स्वामिनीके प्रसादसे सर्व प्रकार कल्याण होता है।

वाग्देवी—हे पुत्र! तुम्हें और जो कुछ प्रिय हो, सो बतलाओ, मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूंगी।

पुरुष—क्या भुवनत्रयमें इससे भी कोई अधिक प्रिय है?

---

१ चार धर्मध्यान—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय।

२ पहले दो शुक्लध्यान—पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क। तीसरे शुक्लध्यानका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथेका व्युपरतक्रियानिवर्त्ति है।

वाग्देवी—हा ! इससे भी अधिक कल्याणस्वरूप वस्तु मेरे पास है । वह मुक्ति है ।

पुरुष—यदि ऐसा कोई पद है, तो हे देवि ! वह भी प्रदान करो । आप सर्वदानसमर्थ हो ।

वाग्देवी—अब तुम अन्तके दो शुक्ल ध्यानोंसे (सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति) शेष बचे हुए चार अघातिया कर्मोंका अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम गोत्रका, नाश करके मुक्तिको प्राप्त करो ।

पुरुष—जो आज्ञा ।

वाग्देवी—इसी उपायसे अघातिया कर्मोंका क्षय करके परमानन्दको प्राप्त करनेवाला सिद्ध पुरुष इस लोकमें सबको सुख प्रदान करै,—

जिनको निर्मल दर्शन लोकालोक विलोकत ।
ज्ञान अनन्त समस्त वस्तुकहँ जुगपत निरखत ॥
जिनको सुख निरवाधरु, वल सव जग उद्धारक ।
रक्षा करहु हमारी सो, प्रसिद्ध शिवनायक ॥

[सब जाते हैं ।

इति श्रीवादिचन्द्रसूरिविरचिते श्रीज्ञानसूर्योदयनाटके चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः